योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

अनुवाद

जो आत्मा में सुख का अनुभव करता है, आत्मा में क्रियाशील है और आत्मा में ही दृष्टि वाला है, वही यथार्थ में संसिद्ध योगी है और अन्त में परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

अनुवाद

जो द्वैत तथा संशय से मुक्त हो चुके हैं, जिनका चित्त आत्मपरायण है, जो सम्पूर्ण पापों से रहित हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण में सलग्न हैं, वे मुक्ति को प्राप्त होते हैं।।२५।।

तात्पर्य

एकमात्र पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष को ही जीवमात्र के कल्याणकार्य में संलग्न कहा जा सकता है। जो मनुष्य तत्त्व से जानता है कि श्रीकृष्ण सबके आदिकारण हैं और इसी भावना से भावित होकर कर्म करता है, वह सबका कल्याण-कार्य करता है। मानवता के दुःखो का कारण यह भूल जाना है कि श्रीकृष्ण परम भोक्ता, परम ईश्वर और सबके परम सुहृद हैं। अत. पूरे मानवीय समाज में इस भावना के पुनर्जागरण के लिए कर्म करना परमोच्च कल्याणकार्य है। एक मुक्तपुरुष ही उत्तम कल्याण-कार्य कर सकता है। कृष्णभावनाभवित पुरुष को श्रीकृष्ण की परात्परता में लेशमात्र संशय नहीं रहता। पूर्ण पापमुक्त हो जाने के कारण उसमें सशय का अभाव हो जाता है। यह दिव्य भगवत्प्रेम की अवस्था है।

जो व्यक्ति मानव समाज का भौतिक कल्याण करने में ही लगा हुआ है, वह यथार्थ में किसी की भी सहायता नहीं करता। देह और चित्त को दिया गया क्षणिक सुख सन्तोषकारी नहीं कहा जा सकता। जीवन-संघर्ष में आने वाली भीषण कठिनाइयों का यथार्थ कारण तो जीव का श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाना ही है। जिस मनुष्य को श्रीकृष्ण से अपने सम्बन्ध का बोध हो जाता है वह संसार रूपी सराय में रहता हुआ भी वास्तव में जीवन्मुक्त है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

अनुवाद

जो काम-क्रोध से मुक्त है, आत्मस्वरूप को जानते हैं, आत्मसंयमी है और ससिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें सब ओर से परमगति प्राप्त है।।२६।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।२८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयों को बाहर ही त्याग कर, दृष्टि को भृकुटी के मध्य में केन्द्रित रखते हुए नासिका मे विचरने वाले प्राणापान को रोक कर चित्त, इन्द्रियों तथा बुद्धि को वश में करने वाला योगी इच्छा, भय और क्रोध से पूर्ण मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में निरन्तर रहने वाला निस्सन्देह जीवन्मुक्त है।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।।२९।।

अनुवाद

मुझे सम्पूर्ण यज्ञ-तप का परम प्रयोजन (भोक्ता), सम्पूर्ण लोको और देवताओ का परमेश्वर तथा प्राणीमात्र का सुहृद जानकर ऋषिजन ससार के दु खो से शान्ति-लाभ करते है।।२९।।

तात्पर्य

माया के आधीन सभी बद्धजीव प्राकत-जगत् मे शान्ति के लिए आतुर है, परन्तु भगवद्गीता के इस श्लोक में वर्णित शान्ति-लाभ की यथार्थ-विधि को वे नहीं जानते। भगवान् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण मानवीय क्रियाओं के भोक्ता है—यह ज्ञान परम-शान्ति का सरल मार्ग है। इसके अतिरिक्त, वे ही सम्पूर्ण लोकों तथा उनमे स्थित देवताओं के परमेश्वर हैं। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि अपना सर्वस्व उन्हीं की दिव्य सेवा में समर्पित कर दें। उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं। वे देवाधिदेव शिव-ब्रह्मा आदि से भी महान् हैं। वेदों मे परमेश्वर श्रीकृष्ण का यह वर्णन है: **तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्** माया-मोहवश जहाँ दृष्टि जाती है, जीव वही अपना

प्रभुत्व करने का प्रयास कर रहे हैं, परन्तु वास्तव मे वे सब भगवान् की माया के आधीन हैं। भगवान् श्रीकृष्ण माया के स्वामी है, जबकि जीव माया कठोर नियमों के परवश हैं। इस नितान्त सत्य को जाने बिना व्यक्तिगत अथवा संयुक्त रूप से भी ससार में शान्ति की उपलब्धि कभी नही हो सकती। कृष्णभावनामृत का भाव यह है भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर है, और देवताओं सहित सारे जीव उनके अनुचर है। इस पूर्ण कृष्णभावनामृत मे ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

पॉचवें अध्याय में कृष्णभावनामृत का व्यावहारिक (क्रियात्मक) निरूपण है, जेसे सामान्यत कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग मुक्तिकारक कैसे हो सकता है?—इस मनोधर्मप्रेरित प्रश्न का उत्तर यहाँ दिया गया है। कृष्णभावनाभावित कर्म करना इस पूर्ण ज्ञान से युवत होकर कर्म करना है कि श्रीकृष्ण परम ईश्वर है। ऐसे कर्म में और ज्ञान मे भेद नही है। कृष्णभावनामृत साक्षात् भवितयोग है, जबकि ज्ञानयोग भक्तियोग की प्राप्ति का केवल एक पथ है। कृष्णभावनामृत का अर्थ परमसत्य से अपने सम्बन्ध के पूर्ण ज्ञान के साथ कर्म करना है; इस भावना की पूर्णता भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप से जानने मे है। शुद्ध आत्मा भगवान् के भिन्न-अश के रूप मे उनका नित्य दास है। माया पर प्रभुत्व की इच्छा के कारण ही वह माया के ससर्ग मे आता है। यही उसे प्राप्त होने वाले नाना दु खो का कारण भी है। जब तक वह प्रकृति के ससर्ग मे रहता है, तब तक प्राकृत आवश्यकता के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य है। किन्तु कृष्णभावनामृत की यह विशेषता है कि जड प्रकृति की परिधि में स्थित जीव को भी वह दिव्य जीवन प्रदान कर सकती है, क्योकि प्राकृत-जगत् मे भक्ति का अभ्यास करने पर जीव का दिव्य स्वरूप पुन उद्भावित हो जाता है। भक्ति मे उत्तरोत्तर प्रगति करने के अनुपात मे प्रकृति-बन्धन से मुक्ति होती जाती है। श्रीभगवान् किसी जीव से पक्षपात नही करते। सब कुछ इन्द्रियनिग्रह और काम-क्रोध का दमन करने के लिए किए गए व्यावहारिक कर्तव्य-पालन पर निर्भर करता है। इन विकारो को निगृहीत कर कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाने वाला वास्तव मे शुद्ध सत्त्व, ब्रह्मनिर्वाण में परिनिष्ठित हो जाता है अष्टागयोग का अन्तिम लक्ष्य कृष्णभावना को प्राप्त करना ही है। अतएव साक्षात् कृष्णभावनामृत मे अष्टागयोग का अभ्यास अपने-आप हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के अभ्यास द्वारा धीरे-धीरे प्रगति हो सकती है। परन्तु भक्तियोग के प्रारम्भ मे ही इन सब की सिद्धि हो जाती है। एकमात्र भक्तियोग मानव को शान्ति प्रदान कर सकता है। वास्तव मे भक्तियोग ही जीवन की परमोच्च संसिद्धि है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पंचमोऽध्यायः।।५।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये पंचमोऽध्यायः।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

ध्यानयोग

(अभ्यास)

श्रीभगवानुवाच ।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, जो पुरुष कर्मफल मे अनासक्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा सन्यासी और योगी है, अग्नि को त्यागने वाला अथवा कर्म को त्यागने वाला नही।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय में श्रीभगवान् ने मन-इन्द्रियो को वश मे करने के साधन के रूप में अष्टागयोग का वर्णन किया है। परन्तु सामान्य जनता के लिए, विशेषत कलियुग में, यह बड़ा कठिन है। अष्टागयोग की पद्धति का वर्णन करते हुए श्रीभगवान् ने भी इस सत्य पर बल दिया है कि कृष्णभावनाभावित कर्म अर्थात् 'कर्मयोग' इससे श्रेष्ठ

है। इस संसार में मनुष्य मात्र अपने परिवार और उसकी सामग्री आदि के पालनार्थ कर्म करता है। किसी का भी कर्म स्वार्थ अथवा किसी न किसी निजी तृप्ति से पूर्णरूप में मुक्त नही है, चाहे वह अपने तक सीमित हो अथवा अधिक व्यापक ही क्यों न हो। ससिद्धि की कसौटी कृष्णभावनाभावित कर्म करना है, कर्मफल को भोगने की इच्छा से प्रेरित कर्म करना नहीं। कृष्णभावनाभावित कर्म सब जीवों का परम कर्तव्य है, क्योंकि स्वरूप से सभी श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश है। शरीर के विविध अग-प्रत्यग सम्पूर्ण शरीर के पोषण के लिए कार्य करते है, स्वार्थ के लिए नही। इसी भाँति, जो पुरुष स्वार्थ के स्थान पर परब्रह्म की तृप्ति के लिए कर्म करता है, वह पूर्ण संन्यासी और पूर्ण योगी है।

कुछ सन्यासी मिथ्या रूप से अपने को सम्पूर्ण लौकिक कर्तव्यो से मुक्त हुआ मानकर अग्निहोत्र को त्याग देते हैं। परन्तु वास्तव में वे स्वार्थी है, क्योकि उनका लक्ष्य निराकार ब्रह्म से सायुज्य प्राप्त करना है। प्राकृत कामनाओ से ऊपर होने पर भी यह इच्छा स्वार्थप्रेरित ही है। इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओ को त्याग कर अर्धमीलित नेत्रो से योगाभ्यास करने वाला भी स्वार्थ तृप्ति से प्रेरित है। कृष्णभावना-भावित भक्त ही एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो परमेश्वर की प्रीति के लिए निस्वार्थ भाव से कर्म करता है। अतएव उसमे स्वार्थ कामना की गन्ध तक नही रहती। श्रीकृष्ण के सन्तोष मे ही वह अपनी सफलता मानता है। इसलिए एकमात्र वह पूर्ण योगी और पूर्ण सन्यासी है। सन्यास के परम आदर्श श्रीगौरसुन्दर चैतन्य महाप्रभु की प्रार्थना है-

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।।

"हे सर्वसमर्थ प्रभो ! मुझे धन-सञ्चय की कोई कामना नहीं है और न ही मै सुन्दर स्त्री अथवा बहुत से अनुयायियों का इच्छुक हूँ। जन्म-जन्मान्तर आपकी कृपामयी अहैतुकी भक्ति की ही मुझे अभिलाषा है।"

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! जिसे सन्यास कहते हैं, वही योग अर्थात् परतत्त्व से युक्त होना है क्योकि इन्द्रियतृप्ति की इच्छा को त्यागे बिना कोई भी योगी नही हो सकता।।२।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

अनुवाद

अष्टांगयोग के प्रारम्भिक साधक के लिए कर्म साधन कहा जाता है और योगारूढ़ साधक के लिए प्राकृत क्रियाओं को सम्पूर्ण रूप से त्याग देना हेतु कहा जाता है।।३।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

अनुवाद

जो विषयवासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर फिर इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता, उस पुरुष को योगारूढ कहते हैं।।४।।

तात्पर्य

पूर्ण रूप से भक्तियोग के परायण मनुष्य आत्मतृप्त हो जाता है, अतएव इन्द्रियतृप्ति अथवा सकाम कर्म को त्याग देता है। भक्तियोग के अभाव मे वह इन्द्रियतृप्ति में अवश्य लगा रहेगा, क्योंकि कर्म किए बिना कोई नही रह सकता। कृष्णभावनामृत के बिना स्वार्थ-क्रियाओ की इच्छा बनी रहती है, चाहे वे अपने तक ही सीमित हो अथवा परिवार, राष्ट्र, विश्व आदि के विस्तारित रूपो मे हो। कृष्ण-भावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करता है और इस प्रकार इन्द्रियतृप्ति की ओर से पूर्ण अनासक्त बना रहता है। दूसरी ओर जिसे यह अनुभूति नही हुई है, उसको योग-नि·श्रेणी के चरम सोपान पर आरूढ होने से पूर्व विषयवासना से मुक्त होने के लिए यन्त्रवत् प्रयत्न करना होगा।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अनुवाद

मनुष्य अपने मन के द्वारा अपना उद्धार करे, अपने को दुर्गति को न पहुँचाए, क्योंकि मन ही बद्धजीव का मित्र है और मन ही उसका शत्रु है।।५।।

तात्पर्य

सन्दर्भ के अनुसार **आत्मा** शब्द का प्रयोग शरीर, मन अथवा आत्मा के अर्थ में होता है। योगपद्धति में मन का विशेष महत्त्व है। यहाँ **आत्मा** शब्द से मन कहा है, क्योंकि वह योगाभ्यास का केन्द्र है। योग का प्रयोजन मन को वश में करके इन्द्रियविषयों से खींचना है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि मन को इस

प्रकार साधना चाहिए जिससे वह अज्ञानसागर से बद्धजीव का उद्धार कर सके। भवरोग से पीड़ित प्राणी मन-इन्द्रियों के आधीन है। वास्तव में प्रकृति पर प्रभुत्व करने विषयक मन के मिथ्या अहकार के कारण ही शुद्ध जीव जड़जगत् में बँधता है। अत· मन को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि वह माया की मिथ्या चमक-दमक की ओर आकृष्ट न हो और बद्धजीव का उद्धार हो सके। इन्द्रियविषयो मे आसक्त हो कर अपना अध पतन नही करना चाहिए। विषयो मे जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही ससार अधिक बन्धनकारी होगा। मोक्ष का सर्वोत्तम पथ यह है कि चित्त से निरन्तर कृष्णभावनामृत मे निमग्न रहे। **हि** पद का प्रयोग इसी बात पर बल देने के लिए किया गया है, अर्थात् ऐसा अवश्य-अवश्य करना चाहिए।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगो मुक्त्यै निर्विषयं मनः।।

'मन ही मनुष्य के बन्धन-मोक्ष का कारण है। इन्द्रियविषयो मे डूबा मन बधनकारी है और विषयो से अनासक्त होने पर वही मन मुक्ति का हेतु है।' अत निरन्तर कृष्णभावनामृत मे तन्मय मन परम मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

अनुवाद

जिसने मन को वश मे कर लिया है, उसके लिए मन सर्वश्रेप्ठ बन्धु है, और जिसने मन को वश मे नही किया है, उसका मन ही परम शत्रु है।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

अनुवाद

जीते हुए मन वाले को परमात्मा नित्य प्राप्त है, क्योकि वह शान्तिलाभ कर चुका है। ऐसे पुरुष के लिए सुख-दु:ख, शीत-ताप, मान-अपमान आदि एक समान हो जाते हैं।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

अनुवाद

ज्ञान-विज्ञान से तृप्त पुरुष को आत्मज्ञानी योगी कहा जाता है। ब्रह्मतत्त्व में स्थित ऐसा जितेन्द्रिय मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण आदि पदार्थों में समभाव रखता है।।८।।

तात्पर्य

परतत्त्व की अनुभूति से शून्य पुस्तकीय ज्ञान की कोई सार्थकता नही है। शास्त्र (पद्मपुराण) मे उल्लेख है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।।

'सासारिक विकारमयी कुंठित इन्द्रियो के द्वारा श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के दिव्य स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। परन्तु भगवत्सेवा में निमग्न हो जाने प श्रीभगवान् के नाम, रूप, गुण तथा लीला के चिन्मय स्वरूप की अपने-आप अनुभूति हो जाती है।'

यह श्रीमद्भगवद्गीता कृष्णभावनामृत का अनुपम विज्ञान है। केवल लौकिक विद्वत्ता से कृष्णभावनामृत की प्राप्ति नही होती। इसके लिए शुद्धहृदय भक्त का सत्संग आवश्यक है। श्रीकृष्णकृपा से कृष्णभावनाभावित महात्मा को तत्त्व का साक्षात्कार सुलभ हो जाता है, क्योंकि वह शुद्ध भक्तियोग से परितृप्त है। विज्ञान से कृतार्थता तथा दिव्य ज्ञान से दृढ़ निष्ठा होती है जबकि केवल पुस्तकीय ज्ञान से तो बाह्य विरोधाभासों द्वारा मोहित तथा भ्रमित हो जाना बडा सरल है। श्रीकृष्ण का शरणागत तत्त्वानुभवी जीव ही वास्तव मे आत्मसयमी है। वह माया-मुक्त हो जाता है, लौकिक विद्वत्ता से उसका कोई सम्बन्ध नही रहता। औरो के लिए लौकिक विद्वत्ता और मनोधर्मी सोने के समान उत्तम हो सकती है, परन्तु श्रीकृष्ण-भक्त के लिए तो इनका मूल्य कंकड़-पत्थर से कुछ भी अधिक नहीं है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

अनुवाद

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन मध्यस्थ, ईर्ष्यालु, पुण्यात्मा और पापात्मा मे भी जिसकी समबुद्धि हो उसे विशेष उत्तम जानना चाहिए।।९।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ।।१०।।

अनुवाद

योगी अपना चित्त परमात्मा विष्णु पर ही एकाग्र करने का निरन्तर प्रयत्न करे, उसे एकान्त मे रहकर सावधानीपूर्वक मन को वश मे करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार कामनाओ और सग्रह के भाव से मुक्त हो जाय।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।१२।।

अनुवाद

योगाभ्यास के लिए एकान्त मे जाकर भूमि पर क्रमश कुशा, मृगछाल तथा मृदु वस्त्र बिछाए। पवित्र स्थान में स्थित ऐसा आसन न तो अधिक ऊँचा हो और न अति नीचा हो। इसके बाद उस पर दृढ़तापूर्वक बैठकर योगी मन-इन्द्रियों को वश में करके हृदय की शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता के साथ योग का अभ्यास करे।।११-१२।।

तात्पर्य

पवित्र देश शब्द तीर्थस्थानो का वाचक है। प्राय सब योगी और भक्त गृहत्याग कर प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, हृषीकेश एव हरिद्वार जैसे तीर्थों मे निवास करते हुए गंगा-यमुना आदि नदियों के एकान्त तट पर योगाभ्यास करते हैं। पर आज प्रायः ऐसा करना साध्य नहीं रहा है। महानगरों के नामधारी योगसघ भोगप्राप्ति में तो सफल हो सकते हैं, परन्तु सच्ची योगसाधना के लिए वे बिल्कुल अनुपयुक्त है। उद्विग्न चित्तवाला असयमी ध्यान का अभ्यास कैसे कर सकेगा ? अत बृहन्नारदीय पुराण के अनुसार वर्तमान कलिकाल में, जबकि लोग प्रायः अल्पायु है, भगवत्प्राप्ति के मार्ग मे मन्द है और नित्य नाना उपद्रवों से पीड़ित रहते हैं, भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन हरे कृष्ण महामन्त्र का सकीर्तन करना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।

'कलह और दम्भाचरण के इस युग में मुक्ति का एकमात्र साधन हरेकृष्ण महामन्त्र का संकीर्तन करना है। कलिकाल में अन्य कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

अनुवाद

शरीर, गले और सिर को सीधा धारण करके नासिका के अग्रभाग मे दृष्टि को एकाग्र करना चाहिए। इस प्रकार, मैथुन से पूर्ण मुक्त होकर, शान्त, सयमित और भयशून्य मन से हृदय मे मेरा ध्यान करते हुए मेरे परायण हो जाय, मुझे ही जीवन का परम लक्ष्य बना ले।।१३-१४।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

अनुवाद

इस प्रकार देह, मन और क्रियाओ के सयम का निरन्तर अभ्यास करने से योगी का भवरोग शान्त हो जाता है और वह मेरे धाम को प्राप्त होता है।।१५।।

तात्पर्य

यहाँ योग के अन्तिम लक्ष्य को स्पष्ट किया गया है। योगाभ्यास का प्रयोजन किसी भोगसुविधा की उपलब्धि कराना नही है, अपितु सम्पूर्ण भवरोग की निवृत्ति ही उसका लक्ष्य है। योगाभ्यास द्वारा स्वास्थ्य-सुधार अथवा लौकिक सिद्धि का अभिलाषी भगवद्गीता के मत मे योगी नही है। साथ ही, भवरोग के शान्त होने का अर्थ कपोलकल्पित शून्य मे प्रविष्ट होना भी नही है। भगवान् की सृष्टि मे शून्य नाम की वस्तु कही नही है। भवरोग की निवृत्ति से तो परव्योम मे स्थित भगवद्धाम मे प्रवेश प्राप्त होता है। भगवद्धाम का भगवद्गीता मे स्पष्ट वर्णन है उस वैकुण्ठधाम मे सूर्य, चन्द्रमा अथवा अग्नि की कोई आवश्यकता नही है। वहाँ के सब वैकुण्ठ नामक लोक प्राकृत आकाश के सूर्य के समान ही स्वयप्रकाश है। भगवान् का राज्य सर्वव्यापक है, परन्तु परव्योम और उसमे स्थित वैकुण्ठ-लोको को ही परमधाम कहा जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व का मर्मज्ञ पूर्णयोगी, जिसे स्वय श्रीभगवान् ने यहाँ **मच्चित्त, मत्पर, मत्स्थानम्** कहा है, सच्ची शान्तिलाभ कर अन्त मे कृष्णलोक अथवा गोलोक वृन्दावन नामक उनके परम धाम मे प्रवेश के योग्य हो जाता है। ब्रह्मसंहिता में स्पष्ट कहा है **गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः,** अर्थात्

नित्य गोलोकविहारी श्रीभगवान् आपनी पराशक्ति के प्रताप से सर्वव्यापक ब्रह्म तथा एकदेशीय परमात्मा के रूप में भी लीलायमान है। श्रीकृष्ण और उनके अंश विष्णु के पूर्णज्ञान के बिना परव्योम अथवा नित्य भगवद्धाम वैकुण्ठ या गोलोक वृन्दावन में किसी का भी प्रवेश नही हो सकता। कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाला पूर्ण योगी है, क्योकि उसका चित्त अनुक्षण कृष्णलीलामृत-कल्लोलिनी मे निमज्जित रहता है। **स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः**। वेदो मे भी यही कहा है **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति** जन्म-मृत्यु के चक्र की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवान् श्रीकृष्ण को जान लेना है। सारांश यह है कि योगपद्धति की सफलता भवरोग से मुक्ति कराने में है, मायावी चातुर्य अथवा उछल-कूद की प्रवणता से अबोध जनता को ठगने में नहीं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! अधिक भोजन करने वाले अथवा बहुत कम खाने वाले के लिए, अधिक सोने अथवा अधिक जाग्रत रहने वाले के लिए योगी बनना सम्भव नही है।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

अनुवाद

जो यथायोग्य आहार, निद्रा, कर्म और विहार करता है, वही योगाभ्यास के द्वारा सम्पूर्ण सासारिक दु.खो से मुक्त हो सकता है।।१७।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

अनुवाद

जिस काल में योगी योग के अभ्यास से चित्त को वश में करके दिव्य तत्त्व में ही भलीभाँति स्थिर हो जाता है, तब उस सम्पूर्ण कामनाओं से मुक्त पुरुष को योगयुक्त कहा जाता है।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

अनुवाद

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी भाँति सयतचित्त योगी नित्य दिव्य आत्मतत्त्व के ध्यान में एकाग्र रहता है।।१९।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।।२३।।

अनुवाद

योग की पूर्ण अवस्था को समाधि कहते है, जब योगाभ्यास के द्वारा चित्त सासारिक क्रियाओ से बिल्कुल सयमित हो जाता है और विशुद्ध चित्त के द्वारा आत्मस्वरूप का दर्शन और आस्वादन सुलभ होता है। उस आनन्दमयी स्थिति में अनन्त रसानन्द मे योगी दिव्य इन्द्रियो के द्वारा आत्मस्वरूप में रमण करता है। इस प्रकार निष्ठ योगी तत्त्व से कभी विचलित नहीं होता और इस सुख की प्राप्ति होने पर वह इससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं समझता। ऐसी स्वरूप-स्थिति को प्राप्त पुरुष बडे से बडे दु:खो के मध्य मे भी इससे चलायमान नही होता। यह विषयसग से उत्पन्न सम्पूर्ण दु खो से वास्तव मे मुक्ति है।।२०-२३।।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

अनुवाद

उस योग का अभ्यास अचल दृढ़ता और श्रद्धा के साथ अवश्य करना चाहिए। मिथ्या अहकार से उत्पन्न विषय-कामनाओ को सम्पूर्ण रूप से त्याग कर मन द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियो को सब ओर से वश मे कर ले।।२४।।

तात्पर्य

योगाभ्यासी निश्चय और धैर्य से युक्त होकर विचलित हुए बिना अभ्यास करे।

अन्त मे लक्ष्यसिद्धि अवश्य होगी—इस प्रकार पूर्ण आशा और महान् धैर्य के साथ इस पद्धति का अनुसरण करे। कृतार्थता मे विलम्ब होने से हतोत्साहित होना उचित नही, क्योकि अशिथिल अभ्यासी अवश्य-अवश्य सफल होता है। भक्तियोग के सम्बन्ध मे श्रील रूपगोस्वामिचरण का वचन है

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्तत्तत्कर्मप्रवर्तनात् ।
संगत्यागात्सतोवृत्तेः षड्भिर्भक्तिः प्रसिद्ध्यति ।।

"हार्दिक उत्साह, धैर्य, निश्चय, भक्तो के सग मे भक्ति के अनुकूल क्रियाओं का सम्पादन और केवल सात्त्विकी क्रियाएँ करने से भक्तियोग सिद्ध होता है।"

दृढ निश्चय के सम्बन्ध मे उस गौरैया का अनुसरण करना चाहिये, जिसके अण्डे सागर की तरगो में नष्ट हो गये थे। एक गौरैया ने सागर तट पर अण्डे दिये, परन्तु महासमुद्र अपनी तरगो पर उन्हे बहा ले गया। इस पर गौरैया अत्यन्त विक्षुब्ध हो गयी और समुद्र से अण्डे लौटाने को कहा। जैसा स्वाभाविक था, सागर ने उसके निवेदन पर कोई ध्यान नही दिया। इस पर गौरैया ने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय कर लिया। अपनी नन्ही चोच से वह उसका जल उलीचने लगी। सभी उसके असम्भव से निश्चय का उपहास कर रहे थे। इतने में उसकी क्रियाओ का समाचार सर्वत्र प्रसारित हो गया। भगवान् विष्णु के दिव्य वाहन पक्षीराज गरुडजी ने भी उसका श्रवण किया। अपनी नन्ही बहन पर द्रवित होकर वे उसे देखने पधारे। गौरैया के दृढ़ निश्चय से हार्दिक प्रसन्न होकर गरुड़जी ने उसे सहायता का वचन दिया। उन्होंने तत्काल समुद्र को चेतावनी दी कि वह चिड़िया के अण्डे लौटा दे, नही तो वे स्वय उसको सुखाने लगेंगे। इससे भयभीत होकर सागर ने अण्डे लौटा दिये। इस प्रकार गरुडजी के अनुग्रह से गौरैया सुखी हो गई।

ऐसे ही योगाभ्यास, विशेष रूप से कृष्णभावनाभावित भक्तियोग पहले-पहल बड़ा कठिन लग सकता है। परन्तु जो भक्तिसिद्धान्तो का दृढ़ता से सेवन करता है उस पर श्रीगोविन्द अशेष-विशेष कृपा करते हैं। प्रसिद्ध है कि अपनी सहायता करने वालो की श्रीभगवान् भी सब प्रकार से सहायता करते हैं।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।।२५।।

अनुवाद

धीरे-धीरे पूर्ण विश्वासपूर्वक बुद्धि द्वारा समाधि में स्थित हो जाय और मन से आत्मस्वरूप के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करे।।२५।।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

अनुवाद

चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी विषयो में भटके, वहाँ-वहाँ से खीचकर इसे फिर आत्मा के ही वश में स्थापित करे।।२६।।

तात्पर्य

मन स्वभाव से अति चचल और अस्थिर है। परन्तु आत्मज्ञानी योगी के लिए इसका सयम करना अनिवार्य है, उस पर मन का अधिकार होना ठीक नहीं। मन और इन्द्रियो को वश में करने वाला 'गोस्वामी' अथवा 'स्वामी' कहलाता है, जबकि मन के आधीन रहने वाला गोदास (इन्द्रियो का सेवक) है। गोस्वामी को विषयसुख की तुच्छता भलीभाँति पता रहती है। उसकी इन्द्रियाँ पूर्ण रूप से चिन्मय इन्द्रिय-रसानन्द मे, इन्द्रियो के अधीश्वर हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में नियोजित है। विशुद्ध इन्द्रियो से श्रीकृष्ण का सेवन करने का नाम ही कृष्णभावनामृत है। इन्द्रियों को पूर्ण रूप से वश मे करने का यह एकमात्र साधन है। इससे अधिक, योग के अभ्यास की परम सिद्धि भी यही है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

अनुवाद

मुझ मे एकाग्र मन वाले योगी को नि सन्देह परम सुख की उपलब्धि होती है। वह ब्रह्मभूत होकर मुक्तिलाभ करता है, उसका चित्त शान्त रहता है, रजोगुण समाप्त हो जाता है और सम्पूर्ण पापकर्म निवृत्त हो जाते है।।२७।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

अनुवाद

इस प्रकार आत्मस्वरूप मे दृढतापूर्वक स्थिर होकर सब पापो से मुक्त हुआ योगी परमचेतन की सन्निधि मे परम सुख का अनुभव करता है।।२८।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

अनुवाद

सच्चा योगी सब प्राणियो मे मुझे देखता है और प्राणीमात्र को मुझ में स्थित देखता है। उस आत्मज्ञानी महापुरुष को वास्तव मे सब मे मेरा दर्शन होता है।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

अनुवाद

जो मुझे सबमें देखता है और सब कुछ मुझ में स्थित देखता है, उसके लिए म कभी अदृश्य नही होता, अर्थात् सदा प्राप्त रहता हूँ और वह भी मेरे लिए कभी अदृश्य नहीं होता।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित भक्त नि सन्देह सर्वत्र श्रीकृष्ण का दर्शन करता है और सब कुछ श्रीकृष्ण मे ही स्थित देखता है। वह भले ही माया की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियो को देखता हुआ प्रतीत हो, परन्तु सभी कुछ श्रीकृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्ति है, इस चेतना के कारण वह नित्य-निरन्तर कृष्णभावना से ही भावित रहता है। श्रीकृष्ण सर्वेश्वर है, इसलिए उनके बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। यह कृष्णभावनामृत का प्रधान सिद्धान्त है। कृष्णभावनामृत का तात्पर्य कृष्णप्रेम का विकास करना है। यह भवमुक्ति से परे की अवस्था है। यह आत्मानुभूति से लोकोत्तर वह स्थिति है, जिसमे भक्त श्रीकृष्ण से इस रूप में एक हो जाता है कि श्रीकृष्ण भक्त के प्राणाराध्य सर्वस्व बन जाते है और वह पूर्णतया कृष्णप्रेमाविष्ट हो जाता है। उस अवस्था मे भगवान् और उनके भक्त मे एक अतरग प्रेममय रस-सम्बन्ध रहता है और जीवात्मा को अपने अमृत-स्वरूप की प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण भक्त की दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते। श्रीकृष्ण से सायुज्य को प्राप्त होना तो आत्मविनाश होगा। भक्त ऐसी भूल कभी नही करता। 'ब्रह्मसंहिता' में कहा है·

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्ति विलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।

'मै आदिपुरुष भगवान् गोविन्द का भजन करता हूँ, भक्त जिनका दर्शन प्रेमरूपी अञ्जन से विच्छुरित नेत्रों के द्वारा निरन्तर किया करते है। भक्तो के हृदय मे अपने श्यामसुन्दर रूप मे वे नित्य दर्शनीय है।' (ब्रह्मसहिता ५ ३८)

इस प्रेमावस्था मे श्रीकृष्ण भक्तो की दृष्टि से कभी तिरोहित नही होते भक्तो

को उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। हृदय मे विराजमान परमात्मा विष्णु के रूप मे उनका दर्शन करने वाले योगी के विषय मे भी यही सत्य है। वह यथासमय शुद्धभक्त बन जाता है और क्षणमात्र के लिए भी अन्तर्यामी प्रभु का दर्शन किये बिना नही रह सकता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

अनुवाद

जो योगी मुझे और सब प्राणियो के अन्तर्यामी परमात्मा विष्णु को एक समझकर मेरा भजन करता है, वह सदा-सर्वदा मुझमे ही निवास करता है।।३१।।

तात्पर्य

परमात्मा के ध्यान के परायण योगी अपने हृदय मे श्रीकृष्ण के अश, शख, चक्र, गदा एव पद्म धारी चतुर्भुज विष्णु का दर्शन करता है। योगी को जानना चाहिए कि विष्णु श्रीकृष्ण से भिन्न नही है। परमात्मा विष्णु के रूप मे श्रीकृष्ण ही प्राणीमात्र के हृदय मे विराज रहे है। इससे अधिक, असख्य जीवो के हृदयो मे स्थित परमात्मा विष्णु के रूपो मे भेद नही है। अतएव भक्तियोग मे निमग्न कृष्णभावनाभावित भक्त और परमात्मा विष्णु का ध्यान करने वाले पूर्णयोगी मे कोई भेद नही है। ससार मे विविध क्रियाओ मे सलग्न रहने पर भी कृष्णभावनाभावित योगी नित्य श्रीकृष्ण मे स्थित रहता है। श्रील रूप गोस्वामिचरण के 'भक्तिरसामृतसिन्धु' मे इसकी सम्पुष्टि है **निखिलेषु अवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते।** नित्य कृष्णभावनाभावित कर्म के परायण रहने वाला भगवद्भक्त स्वत मुक्त हो जाता है। 'नारद पञ्चरात्र' द्वारा यह अनुमोदित है —

दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्।।

'श्रीकृष्ण के देशकाल से अतीत सर्वव्यापक श्रीविग्रह पर ध्यान एकाग्र करने से उनके चिन्तन मे विभोरता होती है और फिर श्रीकृष्ण की दिव्य सनिधि रूपी सुखावस्था प्राप्त हो जाती है।'

कृष्णभावनामृत योगाभ्यास द्वारा प्राप्त समाधि की परम अवस्था है। श्रीकृष्ण का परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के हृदय मे वास है — केवल इतना जानने मात्र से योगी सब प्रकार के दोषो से मुक्त हो जाता है। वेद श्रीभगवान् की इस अचिन्त्य शक्ति का समर्थन करते है ·

एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति।
ऐश्वर्याद्रूपमेकं च सूर्यवद् बहुधेयते।।

अद्वितीय होने के साथ श्रीविष्णु निःसन्देह सर्वव्यापक भी हैं। अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एक विग्रह से भी वे सर्वत्र विद्यमान है। सूर्य के समान अनेक स्थलो में एक ही काल मे प्रकट है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अनुवाद

हे अर्जुन! वह योगी परमश्रेष्ठ है जो अपनी आत्मा की उपमा से सुख-दुःख की प्राप्ति मे सब प्राणियो को समान देखता है।।३२।।

अर्जुन उवाच।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन! आपने जिस योगपद्धति का संक्षेप से वर्णन किया है, वह मन की चञ्चलता और अस्थिरता के कारण मुझे अव्यावहारिक और अस्थायी दिखती है।।३३।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के लिए **शुचौ देशे** से लेकर **योगी परमः** तक जिस योगपद्धति का वर्णन किया, अर्जुन ने यहाँ उसे अस्वीकार किया है; वह अपने को इसके योग्य नहीं समझता। इस कलियुग में साधारण मनुष्य के लिए योग-अभ्यास के लिए घर त्यागकर पर्वतीय क्षेत्र अथवा वनप्रदेश में जाना सम्भव नहीं है। वर्तमान समय में अल्प आयु के लिए घोर संघर्ष चल रहा है। आजकल साधारण व्यक्ति स्वरूप-साक्षात्कार के सुगम एवं व्यावहारिक साधनों मे भी गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होते। फिर ऐसी कठिन योगपद्धति के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, जो जीवनविधि, आसन, स्थान और भोगों में मन की आसक्ति को सयमित करती हो। अर्जुन मे इसके अभ्यास की अनेक अनुकूलताएँ थीं; फिर भी प्रवृत्ति-मार्ग का पथिक होने से उसने इस योगविधि को असाध्य बताया। अर्जुन अपने राजकुल के योग्य

गुणशील, शूरवीर तथा दीर्घायु था। इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण का वह परम अन्तरग सखा था। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को हमारी तुलना में निःसन्देह कही श्रेष्ठ सुविधाये उपलब्ध थी। तब भी, उसने इस योगपद्धति को अगीकार नही किया। उसने किसी समय इस पद्धति का अभ्यास किया हो, ऐसा कोई प्रमाण इतिहास मे नही मिलता। इसलिए कलियुग मे तो इस विधि को बिल्कुल असम्भव ही समझना चाहिए। कुछ दुर्लभ व्यक्तियो को छोड़कर अधिकाश साधारण मनुष्यो के लिए तो यह असाध्य ही है। यदि पाँच हजार वर्ष पूर्व यह स्थिति थी तो वर्तमान के विषय मे क्या कहना है? योग के नाममात्र के विद्यालयो और सघो मे इस योगपद्धति का अन्धानुकरण करने वाले दृष्टिहीन मनुष्य अपने अमूल्य समय का केवल अपव्यय कर रहे है। योग के सच्चे लक्ष्य के सम्बन्ध मे वे पूर्ण अज्ञानी है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

अनुवाद

क्योंकि हे कृष्ण! मन बड़ा चचल, उद्वेगकारक, बलवान् और दुराग्रही है। इस कारण, मुझे मन को वश मे करना वायु को वश में करने से भी कठिन लगता है।।३४।।

तात्पर्य

मन इतना अधिक बलवान् और दुराग्रही हो गया है कि कभी-कभी तो बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है, यद्यपि उसकी स्वाभाविक स्थिति बुद्धि के अधीन रहने की है। सासारिक मनुष्य को कितनी ही प्रतिकूलताओं का सामना करना पडता है, अत मन को वश मे करना निःसन्देह बड़ा कठिन कार्य है। शत्रु-मित्र दोनो मे मन को सम करना कृत्रिम रूप मे ही सम्भव हो सकता है। वास्तव मे तो कोई भी ससारी मनुष्य ऐसा नही कर सकता, क्योंकि यह प्रचण्ड वेगवती वायु को वश में करने से भी कठिन है। वैदिक शास्त्रो में उल्लेख है:

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

'जीवात्मा प्राकृत देह रूपी रथ में सवार है। बुद्धि इसका सारथि है, मन लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। इस प्रकार मन और इन्द्रियो के सग में आत्मा सुख-दु:ख

भोगता है—ऐसा मूर्धन्य मनीषियो का कहना है।'' बुद्धि को मन का नियत्रण करना चाहिये, पर मन इतना बलिष्ठ एव दुराग्रही हो गया है कि प्राय बुद्धि पर भी अधिकार कर लेता है। इसी कारण मन को वश मे करने के लिये योगाभ्यास का विधान है। परन्तु अर्जुन जैसे संसारी मनुष्य के लिये इस प्रकार का योगाभ्यास कभी सम्भव नह हो सकता। फिर आधुनिक मानव के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है ? यहाँ वायु की उपमा बडी उपयुक्त है। वेगवती वायु को वश मे करना किसी के वश की बात नही। फिर अस्थिर मन को वश में करना तो और भी अधिक कठिन कार्य है। मन को वश में करने का सबसे सरल साधन श्रीमन्महाप्रभु की शिक्षा का पालन करते हुए पूर्ण दैन्य भाव से हरे कृष्ण महामन्त्र का सकीर्तन करना है। यह पद्धति इस प्रकार है— **स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः** अर्थात् मन को पूर्ण रूप से श्रीकृष्ण मे ही लगा देना चाहिये। तभी चित्त मे उद्वेग करने वाला कोई दूसरा कार्य नही रहेगा।

श्रीभगवानुवाच ।
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।३५।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे महाबाहु कुन्तीनन्दन। चचल मन का सयम करना नि सन्देह बडा कठिन है, परन्तु निरन्तर अभ्यास और वैराग्य से मन वश मे हो सकता है।।३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।३६।।

अनुवाद

जिसने मन को वश में नही किया है, उसके लिए स्वरूप-साक्षात्कार को प्राप्त होना कठिन है, परन्तु जीते हुए मन वाले के लिए उपयुक्त साधन करने पर सफलता निश्चित है। ऐसा मेरा मत है।।३६।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण की घोषणा है कि जो मनुष्य सांसारिक क्रियाओं से मन को अनासक्त करने के उचित उपचार को अगीकार नहीं करता, वह स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग में कुछ भी सफल नहीं हो सकता। योगाभ्यास का प्रयत्न करते हुए भी मन से विषयभोग के परायण रहना अग्नि पर जल उडेलते हुए साथ-साथ उसे प्रज्वलित

करने के लिए प्रयत्न करने जैसा है। भाव यह है कि मन को वश मे किए बिना योगाभ्यास करना समय का अपव्यय मात्र होगा। ऐसा कपटपूर्ण योगाभ्यास विषय-भोगप्रद तो हो सकता है, परन्तु स्वरूप-साक्षात्कार की दृष्टि से उसका कोई लाभ नही। इसलिए मन को नित्य-निरन्तर श्रीगोविन्द की प्रेममयी दिव्य सेवा में लगाए रखकर उसका अवश्य सयम करना चाहिए। कृष्णभावनाभावित कर्मों में तत्पर हुए बिना मन को स्थायी रूप से सयमित नही किया जा सकता। कृष्णभावनाभावित भक्त को योगाभ्यास का फल सुगमता से प्राप्त हो जाता है, उसे इसके लिए अलग प्रयास नही करना पडता। पर दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित हुए बिना योग का साधक कभी सफल नही हो सकता।

अर्जुन उवाच।
अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे माधव! उस शिथिल यत्न वाले श्रद्धावान् योगी की क्या गति होती है, जो प्रारम्भ में तो स्वरूप-साक्षात्कार का मार्ग ग्रहण करता है, पर फिर विषयों मे चित्त की आसक्ति के कारण योग से विचलित हो जाता है और योग की कृतार्थता को प्राप्त नही हो पाता।।३७।।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे स्वरूप-साक्षात्कार रूप योगपथ का सर्वांग प्रतिपादन है। स्वरूप-साक्षात्कार का मूल सिद्धान्त यह है कि जीवात्मा प्राकृत देह नही है, अपितु देह मे भिन्न है और उसका नित्य सुख सच्चिदानन्दमय जीवन मे है। यह सच्चिदानन्द देह और चित्त, दोनों से परे है। स्वरूप-साक्षात्कार के लिए ज्ञान, अष्टागयोग अथवा भक्तियोग के पथ का अनुगमन किया जाता है। इनमे से प्रत्येक पद्धति मे साधक को जीव के स्वरूप का, श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध का और उन क्रियाओ का बोध होना आवश्यक है जिनसे वह श्रीभगवान् से अपने सम्बन्ध को फिर मे स्थापित कर परम प्रयोजनीय कृष्णप्रेम (कृष्णभावना) को प्राप्त कर सकता है। उपरोक्त तीनो मार्गो मे से किसी एक पर चलने से यथासमय परम लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है। द्वितीय अध्याय में श्रीभगवान् ने घोषणा की है कि परमार्थ के मार्ग मे किया गया अल्प साधन भी महाभय से बचा लेता है। इन तीनों पथों मे भक्तियोग का पथ इस युग के लिये विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यह भगवत्प्राप्ति का सब से सीधा मार्ग है। इस

सम्बन्ध में पूर्ण आश्वस्त होने के लिए अर्जुन श्रीकृष्ण से अपने पूर्वकथित वाक्य की सम्पुष्टि करने का अनुरोध कर रहा है। इस युग में स्वरूप-साक्षात्कार के मार्ग को गम्भीरतापूर्वक अंगीकार करने वाले के लिए भी ज्ञान और अष्टांगयोग की पद्धतियाँ अत्यन्त कठिन हैं। अजस्र प्रयास करने पर भी अनेक कारणों से इनका साधक असफल रह सकता है। सबसे पहले तो सम्भव है, पथ का ठीक-ठीक अनुगमन ही न हो। परमार्थ के पथ पर बढ़ना माया पर आक्रमण करने जैसा है। जब भी कोई जीव मायाबन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करता है तो माया नाना प्रकार के प्रलोभन देकर उसे पगस्त करने का भरपूर प्रयत्न करती है। बद्धजीव माया के तीनों गुणो से पहले ही मोहित है। इस कारण परमार्थ साधना करते हुए फिर मोहित हो जाने की पूरी सम्भावना है। इसी को **योगाच्चलित मानसः** अर्थात् योगमार्ग से भ्रष्ट होना कहते है। अर्जुन का प्रश्न है कि इस प्रकार के योगभ्रष्ट पुरुष की क्या गति होती है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

अनुवाद

हे महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्ति के पथ से भ्रष्ट हुआ ऐसा आश्रयरहित मनुष्य कहीं छिन्न मेघ की भाँति नष्ट तो नही हो जाता?।।३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

अनुवाद

हे कृष्ण! मेरे इस संशय का पूर्णरूप से निवारण करने में एकमात्र आप ही समर्थ हैं। आपके अतिरिक्त इस संशय को दूर करने वाला मिलना सम्भव नही है।।३९।।

श्रीभगवानुवाच।
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ! कल्याणकारी कर्म करने वाले योगी का इस लोक में अथवा परलोक में भी विनाश नहीं होता। हे सखे! सदाचारी का कभी अमंगल नहीं हुआ करता।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

अनुवाद

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यात्माओं के लोको में अनेक वर्षों तक सुख को भोगकर सदाचारी धनवानों के कुल में जन्म लेता है।।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अनुवाद

अथवा (चिरकाल तक योगाभ्यास करके भ्रष्ट हुआ योगी उन लोकों में न जाकर) ज्ञानी योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। ऐसा जन्म इस संसार में नि.सन्देह अति दुर्लभ है।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

अनुवाद

हे अर्जुन ! उस देह मे वह जन्मान्तर के बुद्धियोग को फिर प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार योगयुक्त होकर पूर्ण सिद्धि के लिए आगे साधन करता है।।४३।।

तात्पर्य

राजा भरत, जिन्हें योगभ्रष्ट हो जाने पर तीसरा जन्म श्रेष्ठ ब्राह्मण-कुल मे मिला था, इस सत्य के प्रतीक हैं कि योगभ्रष्ट पुरुष का जन्म ऐसे सत्कुल मे होता है, जहाँ पूर्व शरीर का बुद्धियोग उसे फिर से प्राप्त हो जाय। भरत सम्पूर्ण विश्व के सार्व-भौम सम्राट् थे। उन्हीं के समय से यह लोक देवताओं मे भारतवर्ष के नाम से विख्यात है। उनसे पूर्व इसे इलावर्त वर्ष कहा जाता था। महामहिम सम्राट् ने भगवत्प्राप्ति के लिए अल्प आयु में ही संन्यास ले लिया, परन्तु सफल नहीं हो सके। मृग बनना पड़ा। फिर अगले जन्म मे श्रेष्ठ ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हुए। वहाँ उनका नाम जड़भरत हुआ, वे किसी से भी वार्तालाप किये बिना नित्य एकान्तसेवन किया करते थे। यथासमय राजा रहूगण को परम योगी के रूप में उनका साक्षात्कार हुआ। उनके चरित्र से सिद्ध होता है कि भगवत्प्राप्ति के लिये किया गया साधन अथवा योगाभ्यास कभी व्यर्थ नही

जाता। श्रीभगवान् के अनुग्रह से योगी को बारबार ऐसे अवसरों की प्राप्ति होती है, जिससे वह कृष्णभावना में पूर्ण सिद्धि-लाभ कर सके।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

अनुवाद

पूर्वजन्म के भगवद्भाव (बुद्धियोग) के प्रभाव से वह अपने आप योग की ओर आकृष्ट हो जाता है। योग के लिए प्रयास करने वाला ऐसा जिज्ञासु योगी भी शास्त्र के कर्मकाण्ड का उल्लघन कर जाता है।।४४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनुवाद

दृढ़ अभ्यास के साथ प्रयत्न करता हुआ योगी अनेक जन्मों के अभ्यास के प्रभव से सपूर्ण पापों से शुद्ध होकर अन्त मे परम गति को प्राप्त हो जाता है।।४५।।

तात्पर्य

शुद्ध, धनवान् अथवा पवित्र कुल मे उत्पन्न पुरुष को यह बोध रहता है कि उसे योगाभ्यास के अनुकूल स्थिति की प्राप्ति हुई है। इसलिए वह दृढ़तापूर्वक अपने अपूर्ण कार्य की पूर्ति में लगता है और इस प्रकार सपूर्ण पापो से शुद्ध हो जाता है। पापों की पूर्ण निवृत्ति हो जाने पर ही परमगति—कृष्णभावना की प्राप्ति होती है। कृष्णभावना पापसशुद्धि की परमोच्च अवस्था है। भगवद्गीता में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि है—

येषां त्वन्तगतं पाप जनानां पुण्यकर्मनाम्।
ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।

'अनेक जन्मो तक पुण्यकर्मों को करने से जब कोई सम्पूर्ण पापों और मोहमय द्वन्द्वो से पूर्ण मुक्त हो जाता है, तभी वह श्रीकृष्ण की सेवा के परायण होता है।'

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

अनुवाद

योगी पुरुष सब तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्मियों से श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए, हे अर्जुन! तू सब प्रकार से योगी हो।।४६।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

अनुवाद

सब योगियो मे भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अन्तरग रूप में युक्त है और परम श्रेष्ठ है।।४७।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **भजते** पद का गूढ आशय है। **भजते** पद 'भज' धातु से बना है, जिसका अर्थ है 'सेवा करना'। पूजना और भजना समानार्थक नही। पूजने का अर्थ है पूज्य का अभिवादन। परन्तु प्रेम एव श्रद्धाभावमयी सेवा का प्रयोजन विशेष रूप से भगवान् श्रीकृष्ण के लिए है। पूज्य मनुष्य अथवा देवता का पूजन न करने से मनुष्य को केवल यह सुनना पडता है कि वह सौजन्यशून्य है, परन्तु परमेश्वर श्रीकृष्ण की सेवा न करने वाला तो घोर अपराधी हो जाता है। जीवमात्र श्रीभगवान् का भिन्न-अश है, इसलिए भगवान् की सेवा करना उसका अपना स्वरूप ही है। इस स्वरूपधर्म के पालन मे हुआ प्रमाद अध पतन का कारण बनता है। श्रीमद्भागवत मे प्रमाण है .

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टा पतन्त्यधः।।

'जो जीवमात्र के जन्मदाता आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा रूपी परम धर्म के पालन मे प्रमाद करता है, वह अपनी सहज स्थिति से नि सन्देह गिर जाता है।'

इस श्लोक मे भी **भजन्ति** पद आया है। **भजन्ति** का प्रयोग श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे ही किया जा सकता है, जबकि 'पूजन' शब्द देवता अथवा अन्य साधारण जीवो के लिए भी प्रयुक्त होता है। श्रीमद्भागवत के इस श्लोक का **अवजानन्ति** शब्द भगवद्गीता मे भी है . **अवजानन्ति मां मूढाः**, अर्थात् जो मूर्ख एवं मूढ़ हैं, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण का उपहास करते हैं। भगवत्सेवाभाव से शून्य होते हुए भी ऐसे मूढ़ भगवद्गीता पर भाष्यों की रचना करते हैं। इसका परिणाम यह है कि वे 'भजने' और 'पूजने' में ठीक-ठीक भेद नहीं कर पाते।

भक्तियोग सम्पूर्ण योगों का अन्तिम फल है। अन्य योग तो वास्तव में भक्तियोग की प्राप्ति के साधनमात्र हैं। 'योग' का अर्थ वास्तव में 'भक्तियोग' ही है। ज्ञानादि अन्य योग भक्तियोग रूपी लक्ष्य की ओर ही अग्रसर करते हैं। स्वरूप-साक्षात्कार का विस्तृत पथ कर्मयोग से प्रारम्भ होकर भक्तियोग में समाप्त होता है। निष्काम कर्मयोग इस पथ का उपक्रम है। कर्मयोग के ज्ञान-वैराग्य में बढ़ जाने पर ज्ञानयोग में स्थिति होती है। जब विविध शारीरिक विधियों द्वारा चित्त परमात्मा विष्णु के प्रगाढ़ ध्यान में तन्मय हो जाता है, तो ज्ञानयोग ध्यानयोग में परिणत हो जाता है। अन्त में, अष्टागयोग का उल्लंघन कर भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति होने पर लक्ष्यरूप भक्तियोग की उपलब्धि होती है। यथार्थ में भक्तियोग ही परम प्रयोजनीय तत्त्व है, परन्तु भक्तियोग के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए इन अन्य योगपद्धतियो का ज्ञान आवश्यक है। अतएव इन योगों में क्रमश. उन्नति करने वाला योगी शाश्वत् सौभाग्य के सच्चे पथ पर चल रहा है। किसी एक स्तर पर स्थित रहकर आगे उन्नति न करने वाले को उस-उस स्तर के अनुसार कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, ध्यानयोगी, राजयोगी, हठयोगी आदि कहा जाता है। परन्तु यदि कोई सौभाग्यशाली भक्तियोग तक पहुँच जाय तो समझना चाहिए कि उसने अन्य सब योगों का उल्लंघन कर लिया है। इस प्रकार कृष्णभावना की प्राप्ति योग की परमोच्च अवस्था है, उसी भाँति जैसे हिमालय विश्व के सर्वोच्च पर्वत है और उनमें भी एवरेस्ट शिखर सबका पर्यवसान है।

कोई दुर्लभ भाग्यशाली ही वैदिक विधान के अनुसार स्थित होने के लिए भक्तियोग के पथ को अगीकार कर कृष्णभावनाभावित हो जाता है। आदर्श योगी श्रीश्यामसुन्दर के अनन्य ध्यान में तन्मय रहता है। श्रीकृष्ण श्यामसुन्दर इसलिए कहलाते है कि उनके श्रीविग्रह का वर्ण नवोदित मेघ जैसा सौन्दर्य-सदन नीलाभ है, मुखारविन्द नित्य सूर्य के समान प्रफुल्लित है और श्रीअग में वे उज्ज्वल परिधान, अलकार एव वैजयन्ती माला धारण किए हुए है। उनके श्रीअंग से बिखरती ब्रह्मज्योति नामक सर्वैश्वर्यमयी प्रभा से सब दिशाये आलोकित हो रही हैं। राम, नृसिंह, वराह तथा स्वय कृष्ण रूप से वे अवतरित होते हैं, विशेषत यशोदानन्दन के रूप में नराका अवतार ग्रहण करते है। इस प्रकार वे कृष्ण, गोविन्द, वासुदेव, आदि नामों द्वारा गीयमान है। वे पूर्ण बालक, पूर्ण पति, पूर्ण सखा और पूर्ण स्वामी के रूप मे लीला करते है और समग्र ऐश्वर्यों और दिव्य गुणो के आश्रय हैं। जो श्रीभगवान् के इन दिव्य गुणादि से पूर्ण भावित है, वह परम योगी है।

वैदिक शास्त्रों का प्रमाण है कि योग-ससिद्धि की यह चरम अवस्था भक्तियोग के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

'श्रीभगवान् और गुरुदेव मे परम श्रद्धा वाले महात्माओ के हृदय में वैदिक ज्ञान का सम्पूर्ण तात्पर्य अपने-आप प्रकाशित हो जाता है।'

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्येनामुष्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम् : 'भक्ति का अर्थ लौकिक अथवा पारलौकिक —सब विषय-कामनाओं से रहित भगवत्सेवा करना है। त्रियैषणा से मुक्त होकर मन को पूर्णरूप से श्रीकृष्ण में तन्मय कर देना ही 'नैष्कर्म्य' का प्रयोजन है।'

ये कुछ वे साधन है, जिनसे योग की परम ससिद्धि—भक्तियोग अथवा कृष्णभावना का आचरण हो सकता है।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्याय।।६।।
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये षष्ठोऽध्यायः।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

ज्ञानविज्ञानयोग

(श्रीभगवान् का ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच ।
मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ (अर्जुन) । मेरे भक्तिभाव से युक्त होकर मुझमें आसक्त मन के द्वारा योगाभ्यास करने से तू मुझे निःसन्देह जिस प्रकार पूर्णरूप से जानेगा, उसका श्रवण कर।।१।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता के इस सातवें अध्याय में कृष्णभावनामृत के स्वरूप का पूर्ण निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्ण में सम्पूर्ण ऐश्वर्यों का परिपूर्णतम प्रकाश है। इस अध्याय में उनके द्वारा अपने ऐश्वर्य के प्रकटीकरण का वर्णन है। इसके अतिरिक्त, श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट होने वाले चार प्रकार की सुकृतियों और कभी न कृष्णोन्मुख होने वाले चार प्रकार के दुर्जनों का उल्लेख भी है।

प्रथम छः अध्यायों में जीव को अप्राकृत आत्मतत्त्व कहा गया है, जो विविध योगपद्धतियों के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार कर सकता है। छठे अध्याय के अन्त में निश्चित उल्लेख है कि श्रीकृष्ण में मन की अचल एकाग्रता, अर्थात् कृष्णभावना परमोच्च योगपद्धति है। मन को श्रीकृष्ण में एकाग्र करने से ही परतत्त्व का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं। निर्विशेष ब्रह्मज्योति तथा एकदेशीय परमात्मा विष्णु की अनुभूति परतत्त्व का पूर्ण ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण पूर्ण विज्ञान हैं; अतएव कृष्णभावनाभावित भक्त को सम्पूर्ण तत्त्व स्फुरित हो जाता है। पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष को यह निश्चित प्रबोध हो जाता है कि श्रीकृष्ण ज्ञान की अवधि हैं। विविध योग पद्धतियाँ तो कृष्णभावनामृत-पथ की प्रवेशिका मात्र हैं। जिसने सीधे कृष्णभावनामृत के पथ को ग्रहण कर लिया है, वह ब्रह्मज्योति एवं परमात्मा के सम्बन्ध में अपने आप सब कुछ जान जाता है। सारांश में, कृष्णभावना-योग के अभ्यास से परतत्त्व, जीवतत्त्व, मायातत्त्व और इनके द्वारा अभिव्यञ्जित अन्य सब तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

अस्तु, छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक के निर्देशानुसार योग का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिए। नवधाभक्ति करने से मन अपने-आप भगवान् श्रीकृष्ण के अभिराम ध्यान में एकाग्र रहेगा। भक्ति की इन विधियों में श्रवण करना सर्वप्रधान है। इसीलिए श्रीभगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है **तच्छृणु** 'मुझसे सुन।' भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रमाण है। अत उनके मुखचन्द्र से निस्यन्दित वचनामृत को श्रवण करना कृष्णभावनामृत मे प्रगति करने का सर्वोत्तम सुयोग है। इस कारण भगवत्-तत्त्व की शिक्षा साक्षात् श्रीकृष्ण अथवा उनके शुद्ध भक्त से ही ग्रहण करनी चाहिए, विद्वत्ता के घमण्डी धूर्त अभक्त से नहीं।

श्रीमद्भागवत, प्रथम स्कन्ध, द्वितीय अध्याय में परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण को जानने की पद्धति का वर्णन है

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवण कीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।।
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।

भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसंगस्य जायते।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।।

'वैदिक शास्त्रो से श्रीकृष्ण की कथा सुनने अथवा भगवद्गीता के रूप में साक्षात् श्रीकृष्ण से उनकी कथा को सुनने मात्र से पुण्य होता है। प्राणीमात्र के हृदय में बैठे भगवान् श्रीकृष्ण सुहृद की भाँति कार्य करते हैं और अपनी कथा नित्य सुनने वाले भक्त को शुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार भक्त का सुप्त ज्ञान अपने शुद्ध रूप में फिर से उद्भासित हो जाता है। श्रीमद्भागवत और भक्तों से कृष्णकथा को वह जितना अधिक सुनता है, उतनी ही भगवद्भक्ति मे निष्ठा हो जाती है। भक्ति की प्रगाढता होने पर रजोगुण एवं तमोगुण से मुक्ति होती है और इस प्रकार काम, लोलुपता आदि का क्षय हो जाता है। इन अशुद्धियों के दूर होने पर भक्त शुद्ध सत्त्व में स्थिर रहता है। फिर भक्तियोग से उत्पन्न आह्लाद के फलस्वरूप उसे भगवत्-तत्त्व का पूर्ण बोध हो जाता है। इस प्रकार विषयैषणा की तीक्ष्ण ग्रन्थी का भेदन कर भक्तियोग उसे तत्क्षण परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण के ज्ञान मे **(असंशयं समग्रम्)** आरूढ कर देता है। (भागवत १ २ १७-२१)

अत श्रीकृष्ण से या कृष्णभावनाभावित भक्तो के मुख से श्रवण करने पर ही कृष्णतत्त्व जाना जा सकता है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

अनुवाद

अब मै तेरे लिए विज्ञानसहित उस ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसको जानकर ससार मे फिर कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता।।२।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

अनुवाद

हजारों मनुष्यों में से कोई एक ससिद्धि के लिए यत्न करता है और उन सिद्ध हुए पुरुषों में भी कोई दुर्लभ मनुष्य ही मुझे तत्त्व से जानता है।।३।।

तात्पर्य

विभिन्न श्रेणियों के हजारों मनुष्यों में से किसी एक दुर्लभ मनुष्य की

आत्मतत्त्व, देहतत्त्व एवं परतत्त्व को जानने के लिए पारमार्थिक अनुभूति में पर्याप्त रुचि होती है। मानव-समाज साधारणतया आहार, निद्रा, मैथुन, भय आदि पशुवृत्तियों में मग्न है; दिव्यज्ञान के लिए प्रायः सभी में रुचि का अभाव है। गीता के प्रथम छः अध्याय दिव्यज्ञान के उन जिज्ञासुओं के लिए हैं, जो आत्मज्ञान तथा परमात्मज्ञान के लिए ज्ञानयोग, ध्यानयोग, विवेक-बुद्धि आदि तत्त्व-साक्षात्कार मार्गों का अनुगमन करते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के तत्त्व को तो केवल कृष्णभावनाभावित भक्त ही जान सकते हैं। अन्य योगियों को निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो सकती है, क्योंकि श्रीकृष्ण के तत्त्वज्ञान की तुलना में यह सुगम है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान से भी परे हैं। निर्विशेषवादियों के अग्रगण्य श्रीपाद शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में श्रीकृष्ण को परमब्रह्म स्वय भगवान् स्वीकार किया है; फिर भी योगी और ज्ञानी श्रीकृष्ण को समझने के प्रयास में संभ्रमित हो रहे हैं। शंकराचार्य के अनुगामी श्रीकृष्ण को भगवान् नहीं मानते।कारण, निर्विशेष ब्रह्मानुभूति हो जाने पर भी श्रीकृष्ण के तत्त्व को जान पाना बड़ा कठिन है।

भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष गोविन्द और सब कारणों के परम कारण हैं। '**ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम्।**' अभक्तों के लिए उन्हे जानना बडा कठिन है। उन अभक्तों का कहना है कि भक्ति-मार्ग अति सुगम है, परन्तु उसका अभ्यास वे नही कर सकते। अभक्तों के कथन के अनुसार यदि भक्ति-मार्ग वास्तव में इतना सुगम है तो वे इसको त्याग कर कष्टसाध्य निर्विशेष-पथ को ही क्यों ग्रहण करते हैं? सत्य यह है कि भक्ति-मार्ग सुगम नहीं है। भक्ति के ज्ञान के बिना अप्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा आचरित नाममात्र का भक्ति-पथ सुगम हो सकता है, पर विधि-विधान के अनुसार भक्ति-पथ का अनुसरण करना मनोधर्मी विद्वानों एव दार्शनिकों के बस की बात नहीं। इसी से वे अतिशीघ्र भक्तिपथ से नीचे गिर जाते हैं। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रील रूप गोस्वामिचरण का कथन है—

श्रुति स्मृति पुराणादि पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।।

'उपनिषद्, पुराण, नारद पञ्चरात्र आदि प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की उपेक्षापूर्वक की गयी भगवद्भक्ति समाज में व्यर्थ उत्पातकारी ही सिद्ध होती है।'

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी अथवा परमात्मतत्त्वज्ञ योगी भगवान् श्रीकृष्ण के यशोदा-नन्दन अथवा पार्थसारथि रूप को नही जान सकते। मनुष्यों की तो बात ही क्या, महिमामय देवता भी कदाचित् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मोहित हो जाते हैं। **मुह्यन्ति**

यत्सुरखः, मां तु वेद न कश्चन, स्वयं श्रीभगवान् का कहना है कि उन्हें तत्त्व से कोई भी नहीं जानता। यदि कोई उनके तत्त्व में निष्णात हो तो, **स महात्मा सुदुर्लभः,** 'ऐसा महात्मा परम दुर्लभ है।' इस प्रकार भगवद्भक्ति की आश्रयता ग्रहण किये बिना उच्च विद्वान् अथवा दार्शनिक तक को श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु भक्तों के लिए श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील हैं। एकमात्र शुद्ध भक्त ही उनके सर्वकारणकारणत्व, सर्वशक्तित्व, श्री, यश, वीर्य, सौन्दर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि अचिन्त्य चिन्मय गुणों को यत्किंचित् जानते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। अतएव उनका तत्त्वज्ञान एकमात्र भक्तों को हो सकता है। शास्त्रवचन है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।

'कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके हृदय में अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।' (पद्मपुराण)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अनुवाद

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है।।४।।

तात्पर्य

भगवत्-विद्या श्रीभगवान् के स्वरूप और विविध शक्तियों का तात्त्विक विश्लेषण करती है। भौतिक शक्ति को प्रकृति अथवा श्रीभगवान् के विभिन्न पुरुष-अवतारों की शक्ति कहा जाता है, जैसा कि 'सात्वततन्त्र' में उल्लेख है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।

'प्राकृत-सृष्टि के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के अंश तीन विष्णु-रूपों में प्रकट होते हैं। सर्वप्रथम, महाविष्णु महत्तत्त्व नामक सम्पूर्ण भौतिकशक्ति का सृजन करते हैं। दूसरे पुरुषावतार गर्भोदकशायी विष्णु सब ब्रह्माण्डों मे नानाविध सृष्टि करने के लिए उनमें प्रवेश करते हैं। तीसरे, क्षीरोदकशायी विष्णु परमात्मा के रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-निकाय में सर्वव्यापक हैं। वे अणु-अणु में हैं। जो इन तीनों विष्णु-रूपो को

जानता है, वह भवबन्धन से मुक्ति के योग्य है।

यह प्राकृत-जगत् श्रीभगवान् की एक शक्ति-विशेष का क्षणिक प्रकाशमात्र है। जगत् की सम्पूर्ण क्रियायें भगवान् श्रीकृष्ण के इन तीन विष्णु-रूपों द्वारा संचालित हैं। ये तीनों पुरुषावतार कहलाते हैं। सामान्यत भगवान् कृष्ण के तत्त्व को न जानने वाले में यह धारणा रहती है कि यह जगत् जीवों के भोगने के लिए है और जीव ही प्रकृति के कारण (पुरुष), नियन्ता एव भोक्ता हैं। भगवद्गीता के अनुसार यह अनीश्वरवादी निष्कर्ष मिथ्या है। विचारणा विषयक उपरोक्त श्लोक में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण प्राकृत सृष्टि के आदिकारण हैं। श्रीमद्भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित है। प्राकृत सृष्टि के घटक पँच-तत्त्व श्रीभगवान् की भिन्ना शक्तियाँ हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादियों की परमलक्ष्य 'ब्रह्मज्योति' भी परव्योम में अभिव्यक्त होने वाली एक भगवत्-शक्ति मात्र है। ब्रह्मज्योति में वैकुण्ठ लोकों के समान चिद्विलास नहीं है, पर फिर भी निर्विशेषवादी इसी को अपना परमलक्ष्य मानते हैं। परमात्मा भी क्षीरोदकशायी विष्णु का अशाश्वत् सर्वव्यापक रूप है। भगवद्धाम में परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति नित्य नही होती। अत. परमसत्य केवल भगवान् श्रीकृष्ण है। वे समग्र शक्तिमान् पुरुष हैं और नाना प्रकार की भिन्ना (बहिरगा) और अन्तरगा शक्तियो से युक्त है।

पूर्व कथन के अनुसार, अपरा-प्रकृति (भौतिक-शक्ति) आठ प्रधानरूपों मे अभिव्यक्त होती है। इनमें से प्रथम पाँच, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एव आकाश को स्थूल सृष्टि कहा जाता है। इनकी सृष्टि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गध—ये पाँच इन्द्रियविषय अन्तर्भूत रहते हैं। प्राकृत विज्ञान इन दस तत्त्वों तक सीमित है। अन्य तीनो तत्त्व (मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार) विषयियों द्वारा उपेक्षित हैं। सबके परम उद्गम—श्रीकृष्ण को न जानने के कारण मनोधर्मी दार्शनिक पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सकते। मिथ्या अहंकार (मैं-मेरा) में, जो भवरोग का मूल कारण है विषयभोग के लिए दस इन्द्रियो का समावेश है। 'बुद्धि' शब्द महत्तत्त्व का वाचक है। इस प्रकार, इन आठ शक्तियों से जगत् के चौबीस तत्त्व अभिव्यक्त होते है, जो नास्तिक सांख्य के विषय हैं। ये भिन्न तत्त्व मूल रूप में श्रीकृष्ण की शक्तियों से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु अल्पज्ञ अनीश्वरवादी साख्य दार्शनिक श्रीकृष्ण को सब कारणों का परम कारण नहीं समझते। वास्तव में श्रीकृष्ण की बहिरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति ही सांख्य दर्शन का विवेचनीय विषय है, जैसा भगवद्गीता में वर्णन है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

अनुवाद

हे महाबाहु अर्जुन! इस अपरा (जड़ प्रकृति) के अतिरिक्त मेरी एक जीवरूप परा (चेतन) प्रकृति भी है, जो भौतिक शक्ति से संघर्ष करते हुए ब्रह्माण्ड को धारण करती है।।५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जीव परमेश्वर श्रीकृष्ण की परा प्रकृति (उत्कृष्ट शक्ति) के अंश हैं। अपरा प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं मिथ्या अहंकार के रूप में अभिव्यक्त जड़ तत्त्व हैं। भौतिक प्रकृति के भूमि आदि स्थूल और मन आदि सूक्ष्म, दोनों रूप अपरा शक्ति के कार्य हैं। विविध उद्देश्यों से इन अपरा शक्तियों का उपयोग कर रहे जीव परमेश्वर की परा शक्ति हैं। इसी जीव-शक्ति से सम्पूर्ण जगत् कार्यान्वित हो रहा है। जीव रूपी परा शक्ति से संचारित हुए बिना भौतिक सृष्टि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती है। शक्तियाँ नित्य शक्तिमान् के आधीन रहती हैं, इस न्याय से जीव पर सदा श्रीभगवान् का प्रभुत्व रहता है, उनका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है। इसके अतिरिक्ति जीव भगवान् के समान शक्तिमान् भी कभी नहीं हो सकते, जैसा बुद्धिहीन मनुष्यो का मत है। श्रीमद्भागवत (१० ८७.३०) में जीवों और श्रीभगवान् में भेद का निरूपण इस प्रकार है.

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि
न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया।।

हे परम शाश्वत् विभो! यदि बद्धजीव आपके समान ही नित्य एवं सर्वव्यापक होते तो उन पर आपका प्रभुत्व नहीं होता। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि वे आपकी शक्ति के लघु अंश है, तो वे आपके आधीन सिद्ध हो जाते है। इसलिए मुक्ति का सच्चा अर्थ जीवो का आपकी प्रभुता के शरणागत हो जाना है। ऐसी शरणागति उन्हे शाश्वत् आनन्द प्रदान करती है। वस्तुत इस स्वरूप-स्थिति मे ही वे स्वतन्त्रता को पाते हैं। अतएव जो अल्पज्ञ मनुष्य इस अद्वैतवाद का प्रचार करते है कि ईश्वर और जीव सब प्रकार से एक है, वे वास्तव मे अपने को और दूसरो को भ्रमित ही करते हैं।'

परमेश्वर श्रीकृष्ण एकमात्र ईश्वर हैं और सब जीव उनके आधीन हैं। ये जीव श्रीभगवान् की परा-शक्ति हैं, क्योंकि दोनों में समान चिद्‌गुण हैं। परन्तु जीव शक्ति मे भगवान् के तुल्य कभी नही हो सकते। जड़ प्रकृति के स्थूल और सूक्ष्म रूपों का

उपभोग करते हुए पराशक्तिस्वरूप जीव को अपने यथार्थ दिव्य चित्त तथा बुद्धि का विस्मरण हो जाता है। इस विस्मृति का कारण जीवात्मा पर जड़ प्रकृति के प्रभाव का पड़ना है। परन्तु जब जीव माया के इस बन्धन से स्वतन्त्र हो जाता है तो मुक्तिलाभ करता है। माया से उत्पन्न मिथ्या अहंकार के प्रभाव में वह सोचता है, 'मैं पाँचभौतिक तत्त्व हूँ, और जड़ पदार्थ मेरे हैं।' श्रीभगवान् से एक हो जाने जैसी सब जड़ धारणाओं से मुक्त हो जाने पर ही उसे अपने स्वरूप की फिर प्राप्ति होती है। अस्तु, यह निष्कर्ष निकलता है कि गीता के अनुसार जीव श्रीकृष्ण की असंख्य शक्तियों में से एक शक्ति मात्र है और सांसारिक पाप से पूर्ण शुद्ध हो जाने पर यह शक्ति पूर्णरूप से कृष्णभावनाभावित, अर्थात् मुक्त हो जाती है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अनुवाद

इस जगत् में जड चेतन जो कुछ भी है, वह सब इन दोनों प्रकृतियो से उत्पन्न होता है, इसलिए वास्तव में मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति और प्रलय रूप हूँ।।६।।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

अनुवाद

हे धनञ्जय! मुझ से श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नही है। सूत्र में ग्रथित मणियो की भाँति यह सब कुछ मेरे आश्रित हैं।।७।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन अर्जुन! मै जल में रस हूँ और सूर्य एवं चन्द्रमा मे प्रभा हूँ तथा वैदिक मन्त्रों में ओंकार हूँ; आकाश में शब्द हूँ तथा मनुष्यों में पुरुषत्व हूँ।।८।।

तात्पर्य

इस श्लोक में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार अपनी विविध प्राकृत एवं चिन्मय शक्तियों के द्वारा श्रीभगवान् सर्वव्यापक हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण की प्रारम्भिक अनुभूति उनकी नाना शक्तियों के रूप में ही होती है। यह उनकी निर्विशेष

अनुभूति है। जैसे सूर्य का अधिष्ठातृ-देवता एक पुरुष-विशेष है जिसका अनुभव उसकी सर्वव्यापक शक्ति, सूर्यप्रभा के रूप मे होता है। उसी प्रकार अपने नित्य धाम मे विराजमान होते हुए भी भगवान् अपनी सर्वव्यापी शक्तियो के द्वारा अनुभवगम्य है। रस जल का धर्म है। सागर का जल पीने योग्य नही है क्योकि उसमे जल का शुद्ध स्वारस्य लवण द्वारा दूषित रहता है। जल के प्रति आकर्षण उसके रस की शुद्धता पर निर्भर करता है, यह विशुद्ध रस भी भगवान् की एक शक्ति है। निराकारवादी को जल के स्वारस्य से ईश्वर-सन्निधि का बोध होता है, जबकि साकारवादी प्यास-निवृत्ति के लिए कृपापूर्वक जल दान करने के लिए श्रीभगवान् का जयकार भी करता है। भगवत्-अनुभूति की यह पद्धति है। वस्तुत साकारवाद और निराकारवाद मे कोई मतभेद नहीं है। श्रीभगवान् के तत्त्व को जानने वाला जानता है कि निराकार एव साकार दोनो प्रत्येक पदार्थ मे एक साथ विद्यमान है। परस्पर विरोध का प्रश्न नही उठता। इसी कारण श्रीचैतन्य महाप्रभु ने **अचिन्त्यभेदाभेद** नामक दिव्य सिद्धान्त को स्थापित किया है।

सूर्य तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना मूलरूप मे ब्रह्मज्योति, अर्थात् श्रीभगवान् की निर्विशेष प्रभा से निकली है। प्रत्येक वैदिक मन्त्र के प्रारम्भ मे श्रीभगवान् के सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होने वाला **प्रणव** अथवा **ओंकार** भी उन्ही से प्रकट हुआ है। निर्विशेषवादियों को परमेश्वर श्रीकृष्ण को उनके असंख्य नामो मे से किसी से पुकारने में भय का अनुभव होता है, उन की धारणा मे 'ओंकार' अधिक उत्तम है। परन्तु वे नहीं जानते कि ओंकार श्रीकृष्ण का ही नादविग्रह है। कृष्णभावनामृत की सार्वभौम प्रभुसत्ता है; अतः जो कृष्णभावनामृत का तत्त्वज्ञ हो जाता है, वह सौभाग्यशाली है। इनके विपरीत, जो श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह माया के बन्धन मे है। श्रीकृष्ण का ज्ञान मुक्ति है और श्रीकृष्ण अज्ञान ही बन्धन है।

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

अनुवाद

मैं पृथ्वी में आद्य सौरभ हूँ और मैं ही अग्नि में तेज हूँ। मै ही सब प्राणियो मे उनका जीवन और तपस्वियों में तप हूँ।।९।।

तात्पर्य

पुण्य उसे कहते हैं जिसमें विकार नहीं होता; 'पुण्य' आद्य है। पुष्प, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जगत् की प्रत्येक वस्तु में एक विशिष्ट सौरभ रहती है।

विशुद्ध आद्य सुगन्ध, जो सर्वव्यापक है, श्रीकृष्ण का रूप है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अपना विशिष्ट रस होता है, जिसे रासायनिक सम्मिश्रण से यथारुचि बदला जा सकता है। अत सभी मूल पदार्थों में किसी विशिष्ट गन्ध, सुरभि और रस की प्राप्ति होती है। **विभावसौ** का अर्थ अग्नि है। अग्नि के अभाव में निर्माण, रन्धन आदि कर्म नहीं किये जा सकते। अत अग्नि भी श्रीकृष्ण का रूप है। अग्नि का ताप श्रीकृष्ण है। आयुर्वेद के अनुसार, अपच का कारण उदर में मन्दाग्नि का होना है। अतएव पाचन के लिए भी अग्नि अनिवार्य है। कृष्णभावना में हम जानते है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि सब रासायनिक और भौतिक तत्त्वों के स्रोत श्रीकृष्ण हैं। मानव जीवन की अवधि भी श्रीकृष्ण द्वारा निर्धारित है। अत गोविन्द-अनुग्रह के अनुसार मनुष्य अपने जीवनकाल को बढ़ा-घटा सकता है। इस प्रकार कृष्णभावना प्रत्येक क्षेत्र में क्रियाशील है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

अनुवाद

हे पार्थ। सब प्राणियों का आदि बीज मुझे ही जान। बुद्धिमानो की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज भी मै ही हूँ।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

अनुवाद

मैं बलवानों का कामना और आसक्ति से रहित बल हूं। और हे अर्जुन। जीवो में धर्मसम्मत काम भी मैं ही हूँ।।११।।

तात्पर्य

बलवान् अपने बल का उपयोग निर्बल की रक्षा के लिए ही करे, स्वार्थप्रेरित आक्रमण के लिए नही। इसी भाँति, धर्मसम्मत मैथुन का उद्देश्य केवल सतति करना हो, विषयसुख नहीं। अपनी सन्तान को कृष्णभावनाभावित बनाना माता-पिता का परम कर्तव्य है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

अनुवाद

जो भी सत्त्वगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण से उत्पन्न होने वाले भाव हैं, वे सब मेरी ही शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। एक दृष्टि से मैं सब कुछ हूँ, फिर भी माया के गुणों के आधीन न होने के कारण मैं पूर्ण स्वतन्त्र हूँ।।१२।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों प्रकार के गुणों द्वारा मोहित यह सारा संसार इन गुणों से परे मुझ अविनाशी को नहीं जानता।।१३।।

तात्पर्य

सम्पूर्ण जगत् माया के त्रिविध गुणों के वशीभूत हो रहा है। इन गुणों द्वारा मोहित जीव माया से परे भगवान् श्रीकृष्ण को नहीं पहचानता। त्रिविध गुणों के आधीन होने से इस जगत् में सभी विमोहित हैं।

स्वभाव-भेद के अनुसार जीवों के नाना शरीर और मानसिक एवं शारीरिक कार्य-कलाप होते हैं। मायिक गुणों के आधीन कार्य करने वाले मनुष्यों की चार कोटियाँ हैं। विशुद्ध सत्त्वगुणी मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं और रजोगुणी क्षत्रिय कोटि में आते हैं। रजोगुण और तमोगुण के मिश्रण में स्थित मनुष्य वैश्य हैं और पूर्णतया तमोगुणी मनुष्य शूद्र कहलाते हैं। इनसे भी अधम जीव पशुयोनि ग्रहण करते हैं। परन्तु ये उपाधियाँ चिरस्थायी नहीं हैं। वर्तमान में मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि किसी भी वर्ग में गिना जा सकता हूँ, परन्तु कोई भी अवस्था क्यों न हो, जीवन नाशवान् है। यद्यपि जीवन क्षणभगुर है और हमें पता नहीं कि अगले जन्म में हमें कौन सी देह प्राप्त होगी, फिर भी माया से उत्पन्न देहात्मबुद्धि के कारण हम अपने को अमरीकी, भारतीय, रूसी अथवा ब्राह्मण, हिन्दू, मुस्लिम आदि मान बैठे हैं। माया के गुणों में बँध जाने से इनके ईश्वर—श्रीभगवान् की हमें विस्मृति हो गयी है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि माया के इन गुणों द्वारा मोहित मनुष्य यह नहीं जानते कि सृष्टि के पीछे मैं (परात्पर) हूँ।

जीवों की मनुष्य, देवता, पशु आदि अनेक कोटियाँ हैं। माया की आधीनता में इन सभी को भगवान् का विस्मरण हो गया है, जो माया से परे हैं। रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, यहाँ तक कि सत्त्वगुणी जीव भी परतत्त्व के निर्विशेष ब्रह्मरूप का उल्लंघन नहीं कर सकते। सम्पूर्ण श्री, ऐश्वर्य,

ज्ञान, वीर्य, यश एव वैराग्य से युक्त श्रीभगवान् के साकार रूप के सम्बन्ध में वे संमोहित से रहते हैं। जब सत्त्वगुणी जीव तक भगवान् के तत्त्व को जानने में असमर्थ है तो रजोगुणी और तमोगुणी जीवों के लिए क्या आशा हो सकती है? कृष्णभावनामृत माया के इन तीनों गुणों से बिल्कुल परे है। अतएव जो यथार्थ में कृष्णभावनाभावित हैं, वे पुरुष ही वास्तव में मुक्त है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

अनुवाद

मेरी यह दैवी शक्ति, अर्थात् त्रिगुणमयी माया बडी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते है, वे सुगमतापूर्वक इससे तर जाते हैं।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

अनुवाद

माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, आसुरी स्वभाव को धारण किए हुए, मनुष्यो में अधम और पापकर्म करने वाले मूढ़ मेरी शरण नही लेते ।।१५।।

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता मे कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण के चरणाविन्द की शरण मे जाने मात्र से जीव माया के कठोर नियमो को लाँघ सकता है। इस पर एक जिज्ञासा उठती है। क्या कारण है कि विद्वान् दार्शनिक, वैज्ञानिक, व्यापारी, प्रशासक तथा लोगो के अन्य सब अग्रणी सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों मे नही जाते? मानवता के पथप्रदर्शक नाना प्रकार की बड़ी-बडी योजना बनाकर अनेक वर्षों और जन्मान्तरो तक अध्यवसायपूर्वक मुक्ति के लिए उद्यम करते रहते है। परन्तु जब भगवान् के चरणारविन्द में प्रपन्न होने मात्र से मुक्ति सुलभ हो सकती है, तो क्यों नही ये बुद्धिमान् और परिश्रमी लोग इस सुगम पथ को अंगीकार करते?

गीता मे इस जिज्ञासा का स्पष्ट उत्तर उपलब्ध है। समाज के सच्चे विद्वान् अग्रणी— ब्रह्मा, शिव, कपिल, कुमार, मनु, व्यास, देवल, असित, जनक, प्रह्लाद, बलि, मध्वाचार्य, रामानुजाचार्य श्रीचैतन्य महाप्रभु तथा अन्य श्रद्धालु दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, शिक्षक आदि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीकृष्ण के चरणकमलो

की शरण अवश्य लेते हैं। परन्तु जो वास्तव में दार्शनिक, वैज्ञानिक, शिक्षक, प्रशासक आदि नहीं हैं, केवल लौकिक लाभ के लिए ऐसी योग्यताओं से युक्त होने का कपट भर करते हैं, वे भगवत्-विधान अथवा भागवतपथ को स्वीकार नहीं कर सकते। भगवान् के सम्बन्ध में वे कुछ भी नहीं जानते, इसलिए सासारिक योजनाएँ ही बनाते रहते है। वे भवरोग की समस्याओं का उपचार तो कर नहीं पाते, अपितु उन्हें और भी अधिक जटिल बना देते हैं। शक्तिशाली मायाशक्ति इन अनीश्वरवादियों की योजनाओ का प्रतिकार कर 'योजना आयोगों' के ज्ञान को ध्वस्त कर देती है।

अनीश्वरवादी योजनाकारो को इस श्लोक में **दुष्कृतिन** अर्थात् पापात्मा कहा गया है। **कृतिन** शब्द का अर्थ पुण्यात्मा होता है। नास्तिक योजनाकार भी कभी-कभी अत्यन्त बुद्धिमान् एव श्लाध्य सिद्ध होता है, क्योंकि अच्छी-बुरी किसी भी बड़ी योजना के लिए बुद्धि चाहिए। पर परमेश्वर की योजना के विरोध में अपनी मति का दुरुपयोग करने के कारण अनीश्वरवादी योजनाकार **दुष्कृतिन** है। भाव यह है कि उसकी बुद्धि और चेष्टा उल्टी दिशा की ओर हैं।

गीता मे स्पष्ट कहा है कि माया-शक्ति पूर्णरूप से परमेश्वर श्रीकृष्ण के नियन्त्रण मे कार्य करती है, उसका कोई स्वतन्त्र प्रभुत्व नही है। जिस प्रकार छाया पदार्थ का अनुसरण करती है, माया भी वैसे ही कार्य करती है। फिर भी, माया-शक्ति अत्यन्त बलिष्ठ है। अपने अनीश्वरवादी स्वभाव के कारण नास्तिक उसकी क्रिया-विधि से अवगत नहीं हो सकता और न ही श्रीभगवान् की योजना को जान सकता। सम्मोह, रजोगुण और तमोगुण से आवृत होने के कारण उसकी सब योजनाएँ विफल हो जाती हैं, उसी प्रकार जैसे वैज्ञानिक, दार्शनिक, प्रशासक तथा शिक्षाविद् होते हुए भी हिरण्यकशिपु, रावण आदि की योजनाएँ धूल में मिल गई थीं। दुष्टों के चार वर्ग हैं—

(१) **मूढः** भारवाहक पशुओ जैसे महामूर्ख व्यक्तियों को मूढ कहा जाता है। वे अपने परिश्रम के फल को स्वयं भोगने की तृष्णा रखते हैं, इसलिए उसे श्रीभगवान् को अर्पित करना उन्हे अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार के नरपशुओं का सबसे उपयुक्त उदाहरण गधा है। इस दीन पशु से उसका स्वामी अतिश्रम कराता है। गधा नहीं जानता कि वह किसके लिए दिन-रात इतना उद्यम करता है। सूखे तिनकों से पेट भरने, स्वामी से नित्यभयभीत रहते कुछ समय विश्राम करने, और बारम्बार गधी की लात खा-खाकर भी गधा मैथुन में तृप्ति मानता है। कभी-कभी वह कविता अथवा दर्शन का भी गान करता है, परन्तु उसका खरनाद दूसरों को क्षोभ पहुँचाने में ही सफल होता है। कर्म किसके लिए करना चाहिए, इस ज्ञान से रहित मूढ़ सकाम कर्मी

की ठीक यही स्थिति है। वह नहीं जानता कि कर्म केवल यज्ञ (विष्णु) के लिये करना चाहिये।

स्वकल्पित कर्तव्यों के बोझ से दबे रहकर दिन-रात कठोर परिश्रम करने वाले प्राय· कहते है कि आत्मा के अमृत-स्वरूप की चर्चा सुनने के लिये उनके पास समय नहीं है। ऐसे मूढ़ो के लिए अनित्य विषय-लाभ जीवन का सर्वस्व है, हौंलाकि वे अपने परिश्रम-फल के अल्पाश का ही उपभोग कर पाते हैं। मूढ़ विषय-लाभ के लिये निद्रारहित दिन-रात बिताते हैं, उदरव्रण अथवा मन्दाग्नि से पीड़ित होने पर भी उत्तम से उत्तम भोजन से उनकी तृप्ति नहीं हो पाती। मायिक स्वामी के लिए दिन-रात अथक परिश्रम करने में वे अभिरत रहते हैं। अपने सच्चे स्वामी को न जानकर ऐसे मूढ़ कर्मी माया की सेवा में अपने अमूल्य समय का अपव्यय कर रहे हैं। दुर्भाग्यवश, सब स्वामियों के परम स्वामी (भगवान्) की शरण में वे कभी नहीं जाते और न ही समय निकाल कर प्रामाणिक आचार्यमुख से उनकी कथा का श्रवण करते हैं। विष्ठा खाने वाले सुअर को चीनी और घी से बने मिष्ठान्न कभी अच्छे नहीं लग सकते। ऐसे ही, मूढ़ कर्मी जगत् को आन्दोलित करने वाली चचल प्राकृत शक्ति की इन्द्रियतृप्तिदायक वार्ताओं को ही निरन्तर सुना करता है।

(२) द्वितीय कोटि के दुष्ट **नराधम**, अर्थात् मनुष्यों में परम अधम कहलाते हैं। ८४,००,००० योनियों में ४,००,००० मानवीय योनियाँ हैं। इनमें अनेक नीच योनियों के मनुष्य प्रायः असभ्य होते हैं। जो सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विधि-विधान से युक्त हैं, वे सभ्य कहे जाते हैं। सामाजिक एव राजनैतिक दृष्टि से विकसित होने पर भी जो धर्म से शून्य हैं, वे नराधम हैं। श्रीभगवान् की धारणा से शून्य धर्म वास्तव में धर्म नहीं है, क्योंकि धर्माचरण का एकमात्र प्रयोजन परम सत्य को और उससे मनुष्य के सम्बन्ध को जानना है। गीता मे श्रीभगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है कि उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई प्रमाण नहीं है, वे ही परम सत्य हैं। सभ्य मानव-जीवन सर्वशक्तिमान् परम सत्य भगवान् श्रीकृष्ण से अपने नित्य सम्बन्ध की खोयी चेतना को फिर से जागृत करने के लिये है। जो इस परम दुर्लभ सुअवसर का लाभ नहीं उठाता, वह **नराधम** है। शास्त्रों से ज्ञात है कि मातृगर्भ की परम दुःखदायी अवस्था में शिशु श्रीभगवान् से अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है और बाहर निकलते ही उनकी आराधना करने का वचन भी देता है। विपदा में श्रीभगवान् की स्तुति करना जीवमात्र के लिये स्वाभाविक है, क्योंकि वास्तव में श्रीभगवान् से उसका शाश्वत् सम्बन्ध है। परन्तु प्रसव होते ही बालक गर्भ की पीड़ा को भूल जाता है और माया के प्रभाव में आकर अपने रक्षक को भी उसे विस्मृति हो जाती है।

अपने बालकों के सोए भगवत्प्रेम को फिर जागृत करना अभिभावकों का प्रधान कर्तव्य है। वर्णाश्रम-पद्धति में धर्मशास्त्र मनुस्मृति के अनुसार किए जाने वाले दस प्रकार के शुद्धि सस्कारो का उद्देश्य इस भगवत्प्रेम का पुर्नजागरण ही है। परन्तु अब किसी भी अचल मे इस पद्धति का दृढता से अनुसरण नही किया जाता। परिणामस्वरूप आज विश्व मे ९९.९ प्रतिशत लोग नराधम है।

सम्पूर्ण जनता के नराधम हो जाने पर यह स्वाभाविक ही है कि उसकी सारी नाममात्र की शिक्षा जड प्रकृति की महान् शक्ति के प्रभाव से निष्फल हो जाती है। गीता के मापदण्ड के अनुसार जिसकी विद्वान् ब्राह्मण, कुत्ते, गाय, हाथी और चाण्डाल में समदृष्टि हो, वह पण्डित है। यह सच्चे भक्त की दृष्टि है। गुरुरूप भगवदवतार श्रीनित्यानन्द प्रभु ने नराधम-शिरोमणि जगाई-मधाई बन्धुओं का उद्धार कर के नराधमो पर शुद्धभक्त की अनुकम्पा के परिवर्षण का अनुपम आदर्श स्थापित किया। इस प्रकार भगवद्भक्त की अहैतुकी कृपा से श्रीभगवान् द्वारा दण्डित नराधम मे भी भगवत्प्रेम का फिर से उदय हो सकता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने भागवतधर्म का प्रवर्तन करते हुए उपदेश किया है कि लोग दैन्यभाव से भगवत्कथा का श्रवण करे। भगवद्गीता इस कथा की सार-सर्वस्व है। भागवती कथा को विनम्रता से सुनने पर नराधमो की भी मुक्ति हो सकती है। दुर्भाग्यवश, भगवत्-इच्छा के प्रति समर्पण करना तो दूर रहा, वे तो इस कथा का श्रवण तक नही करते। इस प्रकार ये नराधम मनुष्ययोनि के सर्वप्रधान कर्तव्य की पूर्णरूप से उपेक्षा कर रहे है।

(३) तीसरी श्रेणी के दुरात्मा **माययापहृत ज्ञान** कहलाते हैं, अर्थात् जिनका प्रकाण्ड ज्ञान माया शक्ति के प्रभाव से हर लिया गया है। इस श्रेणी के लोग अधिकाश में बड़े विद्वान्, दार्शनिक, कवि, साहित्यकार, वैज्ञानिक आदि होते है। परन्तु माया उन्हे सत्पथ से भ्रष्ट कर देती है,—वे भी श्रीभगवान् की अवज्ञा कर बैठते हैं।

वर्तमान काल मे गीता के विद्वानो मे भी बहुत से **माययापहृत ज्ञान** मूढ हैं। गीता में सीधी सरल भाषा मे बार-बार कहा गया है कि श्रीकृष्ण स्वय भगवान् हैं। वे असमोर्ध्व है, अर्थात् उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है, क्योंकि वे सब मनुष्यो के पिता—ब्रह्मा के भी पिता है। ब्रह्मा के ही नहीं, वे तो सम्पूर्ण जीव-योनियो के जन्मदाता हैं। वे ही निर्विशेष ब्रह्म के आश्रय हैं, और जीवमात्र के अन्तर्यामी परमात्मा उन्ही का अश है। वे सबके स्रोत हैं, अत. सभी को उनके शरणागत हो जाना चाहिए। इन स्पष्ट वाक्यो के होते हुए भी **माययापहृत ज्ञान** मूढ

श्रीभगवान् को साधारण मनुष्य समझकर उनका उपहास किया करते हैं। वे नही जानते है कि महाभाग मनुष्य-शरीर श्रीभगवान् के नित्य-चिन्मय श्रीविग्रह के अनुसार ही रचा गया है।

माययापहृत ज्ञान श्रेणी के मूढो ने परम्परा के बाहर गीता की जो भी अप्रामाणिक व्याख्याएँ की हैं, वे सब ज्ञान के पथ में बाधक सिद्ध होती हैं। मूढ़ व्याख्याकार न तो स्वय श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण लेते है और न दूसरो को ही ऐसा करने की शिक्षा देते है।

(४) अन्तिम कोटि के दुष्ट **आसुरभावाश्रित**—आसुरी स्वभाव धारी है। यह श्रेणी खुले रूप मे अनीश्वरवादी है। इस कोटि के मनुष्य रूपधारी असुरों का तर्क है कि परमेश्वर इस प्राकृत-जगत् मे कभी अवतरित नही हो सकते। परन्तु अपने इस तर्क को वे किसी ठोस प्रमाण के आधार पर सिद्ध नही कर पाते। दूसरे श्रीभगवान् को निर्विशेष ब्रह्म के आधीन कहते है, यद्यपि गीता मे इससे ठीक विपरीत वर्णन है। श्रीभगवान् से ईर्ष्यावश ये अनीश्वरवादी अनेक कपोलकल्पित झूठे अवतारों को प्रकट करते है। जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य भगवान् की निन्दा करना है, ऐसे ये दुर्जन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की शरण कभी नही ले सकते।

भक्तराज श्रीयामनाचार्य का उद्गार है, 'प्रभो! आप विलक्षण गुण, रूप, लीला से विभूषित है। सब शास्त्रो से आपका विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह प्रमाणित है और दैवी गुणशील ज्ञानी आचार्य भी आप का जय-जयकार करते हैं। फिर भी आसुरभाव रखने वाले आपको जानने मे सफल नही होते।'

अस्तु, (१) मूढ, (२) नराधम, (३) भ्रमित मनोधर्मी तथा (४) अनीश्वर-वादी—ये चारो प्रकार के पापी सब शास्त्रो एव आचार्यों की सम्मति के विरुद्ध श्रीभगवान् के चरणकमलो की शरण मे कभी नहीं आते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

अनुवाद

हे भारत (अर्जुन)! बिपदाग्रस्त, धन की इच्छा वाले, जिज्ञासु और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते हैं।।१६।।

तात्पर्य

दुष्टों के विपरीत ऐसे मनुष्य भी हैं, जो शास्त्रीय विधि-विधान का परिपालन करते हैं। ये **सुकृती** कहलाते हैं। धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक विधानों का

आज्ञानुसरण करने वाले ये सभी न्यूनाधिक रूप मे भगवद्भक्त है। इन मनुष्यों की भी चार कोटियाँ हैं—विपदाग्रस्त, धन के अभिलाषी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। ये सब भिन्न-भिन्न कारणों से भगवद्भक्ति करने के लिए भगवान् की शरण में आते हैं। ये शुद्ध भक्त नहीं है, क्योकि इन्हें भक्ति के बदले में कुछ न कुछ अभिलाषा है। शुद्ध भक्ति तो किसी भी अन्य अभिलाषा अथवा कामना से रहित होती है। **भक्तिरसामृत-सिन्धु** मे भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।

'सकाम कर्म अथवा ज्ञान द्वारा किसी सासारिक लाभ की अभिलाषा मे मुक्त होकर अनुकूलतापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमपूर्वक दिव्य सेवा करनी चाहिए। इसी का नाम शुद्ध भक्ति है।'

भक्तियोग के लिए श्रीभगवान् की शरण लेने और शुद्ध भक्त के सत्सग से पूर्णरूप मे पवित्र हो जाने पर ये चार प्रकार के सुकृति भी शुद्ध भक्त बन जाते है। जहाँ तक दुष्टों का सम्बन्ध है, उनके लिए भक्तियोग के परायण होना अति कठिन है, क्योंकि उनका जीवन स्वार्थमय, असंयमित और पारमार्थिक लक्ष्य मे शून्य है। परन्तु उनमे से भी कुछ जब सौभाग्यवश शुद्ध भक्त के सग मे आते है तो वे भी शुद्ध भक्त बन जाते हैं।

जो सकाम कर्म मे ही लगे रहते हैं, वे केवल सासारिक दु ख के समय भगवान की शरण में आते है और शुद्ध भक्त के संग से भक्तियोग में लगते है। ससार से बिल्कुल निराश व्यक्तियो मे से भी कुछ कभी-कभी शुद्धभक्त का सत्सग करने आते है और इस प्रकार उनमें भी भगवत्-तत्त्व की जिज्ञासा का उदय हो सकता है। इसी प्रकार, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र मे हार जाने पर शुष्क दार्शनिक भगवत्-ज्ञान के लिए उत्कण्ठित होकर भगवद्भक्ति करते है और परिणाम में भगवत्कृपा अथवा महाभागवतकृपा से ब्रह्म और परमात्मा के ज्ञान का उल्लघन करके सविशेष श्रीभगवान् को प्राप्त कर लेते हैं। सक्षेप मे, जब ये चारों (आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी) सम्पूर्ण वासना से मुक्त हो जाते हैं और यह भलीभाँति हृदयगम कर लेते हैं कि लौकिक लाभ का पारमार्थिक उन्नति से कुछ भी सम्बन्ध नही है, तो ये सब शुद्ध भक्त बन जाते है। जब तक ऐसी परम शुद्ध अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक भगवत्सेवी भक्तों में सकाम कर्म के दोष बने रहते है और कभी-कभी वे ज्ञानादि का अन्वेषण भी किया करते हैं। अत विशुद्ध भक्तियोग के स्तर पर आने के लिए इन

सभी बाधाओं का उल्लघन करना आवश्यक है।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अनुवाद

इन सब मे शुद्ध भक्तियोग द्वारा मुझसे युक्त ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ है, क्योकि मै उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अतिशय प्रिय है।।१७।।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

अनुवाद

निःसन्देह ये सभी भक्त उदार है, परन्तु जो मेरा तत्त्वज्ञानी है, उसे तो मै अपने में ही स्थित मानता हूँ। मेरी भक्ति के नित्य परायण रह कर वह मुझे ही प्राप्त होता है।।१८।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अनुवाद

बहुत जन्मान्तरो के अन्त मे तत्वज्ञान को प्राप्त पुरुष मुझे सब कारणो का परम कारण और सर्वव्यापक जानकर मेरी शरण मे आता है। ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है।।१९।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

अनुवाद

कामनाओं ने जिनके ज्ञान को हर लिया है, वे ही अन्य देवताओं की शरण लेकर अपने स्वभाव के अनुरूप उपासना के विधि-विधान का पालन करते हैं।।२०।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

अनुवाद

मैं अन्तर्यामी परमात्मा रूप से जीवमात्र के हृदय में हूँ; इसलिए जो जिस इच्छा से जिस देवरूप को श्रद्धा से पूजने की इच्छा करता है, मैं उसकी श्रद्धा को उसी देवता में स्थिर कर देता हूँ।।२१।।

तात्पर्य

ईश्वर ने सबको स्वतन्त्रता दी है। इसलिए यदि किसी को विषयभोग की इच्छा है, जिसके लिए वह हृदय से चाहे कि अमुक देवता उसे अमुक सुविधा प्रदान करे, तो परमेश्वर श्रीकृष्ण जो परमात्मा रूप से प्राणीमात्र के अन्तर्यामी हैं, उसके मनोभाव को जान जाते हैं और उसकी अनुकूलता का विधान कर देते हैं। सम्पूर्ण जीवों के परमपिता के रूप में वे उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते, अपितु, उनकी मनोरथ-सिद्धि के लिए पूर्ण सुविधा की व्यवस्था करते हैं। यह जिज्ञासा हो सकती है कि सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् जीवों को यह प्राकृत-जगत् भोगने की सुविधा दे कर मायापाश में गिरने ही क्यों देते हैं। इसके उत्तर में यह उल्लेखनीय है कि यदि परमात्मा के रूप में श्रीभगवान् ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं कराते तो जीव की स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं रहता। इसलिए उन्होंने जीवमात्र को स्वेच्छानुरूप आचरण करने की पूरी स्वतन्त्रता दी है। परन्तु 'भगवद्गीता' में उनका अन्तिम आदेश यही है कि मनुष्य को अन्य सब कार्यों को त्यागकर पूर्णरूप से उनकी शरण में आ जाना चाहिए। इसी में वह सुखी हो सकेगा।

जीवात्मा और देवता, दोनों भगवान् की इच्छा के आधीन है। जीव न तो स्वेच्छापूर्वक देवाराधन कर सकता है और न ही देवता भगवत्-इच्छा के बिना उसे कोई वरदान दे सकते है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवान् की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। साधारणतया प्राकृत-जगत् में विपदा का मारा मनुष्य देवोपासना करता है, जैसा वैदिक शास्त्रों में निर्देश है। अमुक कामना के लिए अमुक देवताओं की उपासना करे, ऐसा विधान है। उदाहरणस्वरूप, रोगी को सूर्योपासना करनी चाहिए, विद्याकामी को विद्या की देवी सरस्वती का पूजन करना चाहिए, तो सुन्दरी स्त्री की अभीप्सा वाला भगवान् शिव की अर्धांगिनी उमा की आराधना करे। इस प्रकार शास्त्रों में अलग-अलग देवगणों की उपासना का विधान है। जीवमात्र अमुक-अमुक विशेष प्राकृत-सुख चाहता है। अतएव श्रीभगवान् उसे तत्सम्बन्धी देवता से उपयुक्त वरदान प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा से प्रेरित करते है। इस प्रकार वह अभीष्ट वर की प्राप्ति में सफल हो जाता है। किसी देवता में जीव के भक्तिभाव का विधान भी श्रीभगवान् करते हैं, देवता स्वयं जीवों को ऐसी बन्धुता से

भावित नही कर सकते। जीवमात्र के हृदय में परमेश्वर अथवा परमात्मा रूप से बैठे श्रीकृष्ण ही जीव को देवोपासना से लिए प्रेरित करते हैं। देवता तो केवल श्रीकृष्ण के विश्वरूप के भिन्न-भिन्न अग हैं, उनमें स्वतन्त्रता का बिल्कुल अभाव है। वेद (तैत्तिरीय उपनिषद्, प्रथम अनुवाक) में उल्लेख है परमात्मा रूपधारी श्रीभगवान् देवताओ के हृदय मे भी हैं। अतएव वे ही देवताओं के द्वारा जीवो की इच्छा-पूर्ति का विधान करते है। इस प्रकार देवता और जीवात्मा स्वतन्त्र नही हैं, दोनो भगवान् की इच्छा के आधीन हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

अनुवाद

वह उस श्रद्धा से उसी देवता का आराधन करके अपने इच्छित भोगों को प्राप्त करता है। परन्तु वास्तव मे इन भोगों को देने वाला मैं ही हूँ।।२२।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

अनुवाद

परन्तु उन अल्पबुद्धि मनुष्यो को देवोपासना से सीमित और क्षणभगुर फल ही होता है। देवोपासक देवलोको को जाते है, जबकि मेरे भक्त अन्त मे मेरे परम धाम को प्राप्त होते है।।२३।।

तात्पर्य

गीता के कतिपय व्याख्याकारो के अनुसार देवोपासक को भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवोपासक अपनी उपासना के अनुसार भिन्न-भिन्न देवलोकों को जाते हैं। उदाहरणस्वरूप, सूर्योपासक सूर्यलोक में प्रवेश करता है तथा चन्द्रोपासक को चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है। तदनुरूप, इन्द्रादि देवताओ की उपासना के अभिकाक्षी को वही-वही देवलोक मिल सकता है। यह सत्य नहीं कि किसी भी देवता की आराधना करने से भगवत्प्राप्ति हो सकती है। इस धारणा के निराकरण के लिए भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि देवोपासकों को यथाधिकार प्राकृत-जगत् के भिन्न-भिन्न लोको की प्राप्ति होती है, जबकि भगवद्भक्त साक्षात् परमलोक—भगवद्धाम को जाते है।

यह तर्क किया जा सकता है कि यदि देवता श्रीभगवान् के विश्व (विराट्) रूप

के अग-प्रत्यंग हैं, तो देवताओं की उपासना से उसी लक्ष्य (श्रीभगवान्) की प्राप्ति हो जानी चाहिए । अपने इस तर्क से देवोपासक निश्चित रूप में अल्पज्ञ सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे इतना भी नहीं जानते कि शरीर के किस अग में भोजन पहुँचना चाहिए । उनमें से अधिक मूढ तो यहाँ तक कहते है कि भोजन ग्रहण करने के योग्य बहुत से अग हैं जिनमें भोजन पहुँचाने की बहुत सी विधियाँ हैं। यह कहना अधिक बुद्धिसगत नही है । क्या कोई कर्णरन्ध्रो अथवा नेत्रों के माध्यम से देह मे भोजन पहुँचा सकता है? साधारण मनुष्य नही जानते कि ये देवता श्रीभगवान् के विराट् रूप के भिन्न-भिन्न अग हैं। इस अज्ञानवश वे प्रत्येक देवता को स्वतन्त्र ईश्वर और परमेश्वर श्रीकृष्ण का प्रतिस्पर्धी मानने की भूल कर बैठते हैं।

देवता ही नहीं, साधारण जीव भी श्रीभगवान् के अंश हैं। श्रीमद्भागवत में कथन है कि ब्राह्मण विश्वरूप श्रीभगवान् के शीर्ष हैं, क्षत्रिय भुजदण्ड हैं, इत्यादि। ये सब भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। वर्ण-स्थिति चाहे कुछ भी हो, जो यह जानता है कि देवता और वह, दोनों श्रीभगवान् के भिन्न-अश हैं, उसका ज्ञान पूर्ण है । जो यह नही जानता, उसे नाना प्रकार के देवलोकों की प्राप्ति होती है । भक्त की गति इससे भिन्न है ।

देवताओ के वरदान से मिलने वाले फल नश्वर हैं, क्योंकि इस प्राकृत-जगत् के लोक, देवता और उनके उपासक आदि सभी कुछ अनित्य हैं। इस श्लोक मे स्पष्ट किया गया है कि देवोपासना से उत्पन्न सब फल नश्वर हैं। अतएव इसमें सन्देह नही कि अल्पज्ञ जीव ही देवोपासना करेगा। दूसरी ओर, कृष्णभावनाभावित भक्तियोगी शुद्ध भक्त को सच्चिदानन्दमय जीवन मिलता है। इससे सिद्ध हुआ कि उसकी और साधारण देवोपासकों की उपलब्धियों में गम्भीर अन्तराल है। भगवान् श्रीकृष्ण निरवधि हैं, उनकी करुणा-कृपा की भी अवधि-परिधि नहीं है। अपने शुद्ध भक्तों पर वे नित्य-निरन्तर अशेष कृपा-सुधा-कादम्बिनी का परिवर्षण करते रहते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

अनुवाद

मुझको न जानने वाले बुद्धिहीन मनुष्य समझते हैं कि मैंने यह रूप और व्यक्तित्व धारण किया है। अपने अल्पज्ञान के कारण वे मेरे परम उत्तम अविनाशी स्वरूप को नहीं जानते।।२४।।

तात्पर्य

पूर्वी श्लोकों में देवोपासकों को अल्पज्ञ कहा गया; इसी प्रकार इस श्लोक में निर्विशेषवादियों को बुद्धिहीन कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वयंरूप में यहाँ अर्जुन को अपने वचनामृत का पान करा रहे हैं; पर फिर भी अज्ञानमोहित निर्विशेषवादी तर्क करते हैं कि अन्तिम रूप में परमेश्वर निराकार हैं। श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के महियामय भगवद्भक्त यामुनाचार्य ने इस सन्दर्भ में दो बड़े उपयुक्त श्लोकों की रचना की है। वे कहते हैं, "प्रभो! व्यासदेव, नारद आदि भक्त आपको पुरुषोत्तम भगवान् जानते हैं। वैदिक शास्त्रों से आपके स्वरूप-लक्षणो, रूप, लीलामृत आदि का बोध होता है और यह भी जाना जाता है कि आप स्वय भगवान् हैं। फिर भी रजोगुणी और तमोगुणी अभक्त असुर आपको नहीं समझ पाते, क्योंकि आपके तत्त्व को हृदयगम करने मे वे बिल्कुल असमर्थ हैं। ऐसे अभक्त वेदान्त, उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रो की चर्चा करने मे कितने कुशल क्यों न हो, परन्तु आप के स्वयरूप को नहीं जान सकते।"

'ब्रह्मसंहिता' के अनुसार वेदान्त का स्वाध्याय करने मात्र मे भगवनत्त्व का ज्ञान होना दुर्लभ है। श्रीभगवान् के निरुपाधिक अनुग्रह के प्रताप मे ही उनके स्वरूप का बोध हुआ करता है। अत· इस श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि देवोपासकों के साथ-साथ, जो वेदान्त तथा वैदिक शास्त्रो के सम्बन्ध मे मनोधर्मी करते है, वे सच्ची कृष्णभावना से विहीन अभक्त भी अल्पज्ञ है। इस श्रेणी के व्यक्ति ईश्वर के नराकार पुरुष स्वरूप को कभी नहीं जान सकते। इसी से परमसत्य को निर्विशेष मानने वालो को असुर कहा है। असुर उसे कहते है जो परमसत्य के परमोच्च स्वरूप को नही जानता। श्रीमद्भागवत की वाणी है कि परमसत्य की अनुभूति निर्विशेष ब्रह्मरूप मे प्रारम्भ होती है, इसके आगे एकदेशीय (अन्तर्यामी) परमात्मा की अनुभूति है। परन्तु परमसत्य की सीमा तो पुरुष रूप श्रीभगवान् ही है। आधुनिक निर्विशेष-वादी तो और भी अधिक अल्पज्ञ है — वे अपने महान् पूर्वगामी शकराचार्य तक का अनुगमन नही करते। शकराचार्य ने विशेष रूप मे श्रीकृष्ण को भगवान् घोषित किया है। पर परम सत्य के तत्त्व को न जानने वाले ये निर्विशेषवादी श्रीकृष्ण को वसुदेव-देवकी का सामान्य पुत्र, राजकुमार अथवा शक्तिशाली जीव बनाते हैं। भगवद्गीता में इसकी निन्दा है "जो मूर्ख है वे मनुष्य ही मुझे साधारण व्यक्ति **समझते हैं।" वास्तव में भक्तियोग का आचरण तथा कृष्णभावनामृत का विकास किए बिना किसी को भी श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता।** गीता इसका प्रमाण है।

मनोधर्म के द्वारा अथवा वैदिक शास्त्रों पर वार्तालाप करने मात्र से भगवान्

श्रीकृष्ण को अथवा उनके रूप, चिद्गुण, नामादि को नही जाना जा सकता। उनका ज्ञान केवल विशुद्ध भक्तियोग से हो सकता है। **हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे**—इस महामन्त्र के कीर्तन से भक्तियोग मे प्रवृत्त हो कर जो पूर्ण रूप से कृष्णभावना मे निरत हो गया है, वह पुरुष ही श्रीभगवान् को तत्त्व से जान सकता है। अभक्त निर्विशेषवादियो की धारणा मे श्रीकृष्ण का विग्रह माया-निर्मित है और उनके सब लीला-विलास, रूप आदि तत्त्व भी मायिक है। अपनी इसी मान्यता के कारण ये निर्विशेषवादी 'मायावादी' कहलाते हैं। ये परम सत्य को नही जानते।

बीसवे श्लोक मे स्पष्ट कहा है—'जो कामनाओ मे अंधे हो गए है, वे मनुष्य ही विभिन्न देवताओ की उपासना मे प्रवृत्त होते है।' यह स्वीकृत तथ्य है कि श्रीभगवान् के अतिरिक्त ऐसे बहुत से देवता है जिनके अपने-अपने लोक है (भगवद्गीता ७.२३), और श्रीभगवान् का भी अपना निज धाम है। यह भी उल्लेख्य है कि देवोपासक भिन्न-भिन्न देवलोको मे गमन करते है, जबकि कृष्णभक्त परमधाम कृष्णलोक को जाते है। इन स्पष्ट वाक्यो के होते हुए भी मूढ निर्विशेषवादियो का हठ है कि परमेश्वर निराकार है और ये सब भगवत्-रूप आरोपण मात्र है। क्या गीता के स्वाध्याय से लगता है कि देवता और उनके लोक निर्विशेष है? स्पष्ट है कि न तो देवता निराकार है और न भगवान् श्रीकृष्ण ही निराकार है। वे सभी सविशेष-साकार है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है और उनका अपना लोक है, जैसे देवताओ के भी अपने-अपने लोक है।

अस्तु, अद्वैतवादियो का यह तर्क सत्य सिद्ध नही होता कि परम सत्य निराकार है, उस पर केवल रूप का आरोपण है। इस श्लोक मे स्पष्ट है कि भगवान् पर रूप का आरोपण नही है। गीता मे यह भी स्पष्ट है कि देवताओ और परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-भिन्न रूप एक साथ विद्यमान है। परन्तु भगवान श्रीकृष्ण के विग्रह मे वैशिष्ट्य है, वे सच्चिदानन्द है। वेदप्रमाण कहता है कि परतत्त्व **आनन्दमय है, अभ्यासात्**, अर्थात् स्वरूपत निरवधि चिन्मय गुणो का निधान है। गीता मे स्वयं श्रीभगवान् का कथन है कि अजन्मा होते हुए भी वे प्रकट होते है। पाठक इन सब तथ्यो को गीता से भलीभाँति हृदयगम करे। श्रीभगवान् को निर्विशेष नही माना जा सकता, क्योकि गीता के वचनो से निर्विशेष अद्वैतवादियो का आरोपणवाद मिथ्या सिद्ध होता है। यह श्लोक प्रमाण है कि परतत्त्व-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का अपना विशिष्ट रूप और व्यक्तित्व है।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

अनुवाद

मैं मूढ़ और अल्पज्ञ मनुष्यों के सामने कभी प्रकट नहीं होता; उनके लिए अपनी नित्य योगमाया में छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ यह जगत् मुझ अजन्मा अविनाशी अच्युत को नहीं जानता।।२५।।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं स्वय भगवान् पूर्वकाल के, वर्तमान के और भविष्य के सम्पूर्ण घटना-चक्र को जानता हूँ। मैं सब जीवों को जानता हूँ, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता।।२६।।

तात्पर्य

इस श्लोक में साकारता-निराकारता के विवाद की स्पष्ट विवेचना है। यदि निर्विशेषवादियो की धारणा के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण माया अर्थात् प्राकृत होते, तो जीव के समान उनका भी देहान्तर होता, जिससे उन्हें भी पिछले जीवन की पूर्ण रूप से विस्मृति हो जाती। कोई भी प्राकृत देहधारी न तो अपने पूर्व जीवन की स्मृति बनाए रख सकता और न ही अपने भावी अथवा वर्तमान जीवन के परिणाम की भविष्यवाणी कर सकता है। भाव यह है कि वह भूत, वर्तमान एवं भविष्य के घटनाक्रम को नही जानता, सासारिक विकारो से मुक्त हुए बिना कोई भी त्रिकालज्ञ नही हो सकता।

साधारण मनुष्यो से विलक्षण, भगवान् श्रीकृष्ण की स्पष्ट घोषणा है कि वे पूर्ण रूप से जानते हैं कि पूर्व में क्या हुआ, वर्तमान मे क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होगा। चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण को करोड़ों वर्ष पूर्व सूर्यदेव विवस्वान् को दिए उपदेश की पूर्ण स्मृति है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवों के हृदय में परमात्मा के रूप मे हैं, इसलिए जीवमात्र से परिचित हैं। वे जीवमात्र में परमात्मा रूप से तथा इस जगत् के परे वैकुण्ठ-जगत् मे भगवत्स्वरूप मे स्थित है, परन्तु अल्पज्ञ उनको परम पुरुषोत्तम के रूप मे नही जान सकते। श्रीकृष्ण का दिव्य श्रीविग्रह नि सन्देह अविनाशी है। वे सूर्य-तुल्य है और माया ठीक मेघ के समान है। प्राकृत आकाश में सूर्य, नक्षत्र और अनेक लोक हैं। मेघ इन सबको अस्थायी रूप से ढक सकते हैं, परन्तु ऐसा हमें अपनी सीमित

दृष्टि के कारण ही लगता है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि वास्तव मे नही ढकते। ऐसे ही, माया भी श्रीकृष्ण को आवृत नहीं कर सकती। अपनी अतरगा शक्ति के द्वारा वे स्वेच्छा से अल्पज्ञों के सामने नही प्रकट होते। जैसा अध्याय के तीसरे श्लोक मे कहा है, करोडो मनुष्यो मे से कोई एक दुर्लभ व्यक्ति मानव देह की ससिद्धि के लिए प्रयास करता है और ऐसे हजारो सिद्धो मे भी कोई एक ही भगवान् श्रीकृष्ण को तत्त्व से जानता है। जिसे निर्विशेष ब्रह्म अथवा एकदेशीय परमात्मा की पूर्ण अनुभूति हो गई हो, वह भी कृष्णभावनाभावित हुए बिना भगवान् श्रीकृष्ण के तत्त्व को नही जान सकता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

अनुवाद

हे भरतवशी अर्जुन! इच्छा-द्वेष से उत्पन्न सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो के कारण सब जीव ससार मे मोह को प्राप्त हो रहे है।।२७।।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

अनुवाद

परन्तु जिन्होंने पुण्य कर्मों का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये है वे द्वन्द्वरूप मोह से मुक्त पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हैं।।२८।।

तात्पर्य

इस श्लोक मे दिव्य शुद्ध सत्त्वमयी अवस्था की प्राप्ति के अधिकारियो का उल्लेख है। जो पापात्मा, अनीश्वरवादी, मूढ और कपटी है, उन के लिए इच्छा द्वेष आदि द्वन्द्वो का उल्लघन करना बडा कठिन है। जिन्होंने सम्पूर्ण जीवन मे धर्म का आचरण किया है और पुण्यकर्म करते हुए पापो का नाश कर दिया है, वे पुरुष ही भक्तियोग को अगीकार करते है और इस प्रकार शनै-शनै. श्रीभगवान् के शुद्ध ज्ञान को पाते हैं। फिर शनै-शनै. उन्हे समाधि मे भगवान् का ध्यान होने लगता है। यह शुद्ध सत्त्व मे स्थित होने की विधि है। जीव को मोहमुक्त करने मे समर्थ शुद्ध भक्तो के सत्सग से कृष्णभावनाभावित हो जाने पर यह स्थिति बडी सुलभ हो जाती है।

श्रीमद्भागवत मे कथन है कि यदि मोक्ष की सच्ची अभिलाषा हो तो नित्य-निरतर भक्तसेवा करे। इसके विपरीत, जो विषयी जीवो का सग करता है, वह

अन्धकारमय भवसमुद्र के पथ पर अग्रसर हो रहा है। महाभागवत जन इसी प्रकार के बद्धजीवो को मायामुक्त करने के लिए वसुधा पर परिव्राजन करते हैं। निर्विशेषवादी नहीं जानते कि 'मैं भगवान् का नित्यदास हूँ,' अपने इस स्वरूप को भुला देना भगवान् के नियम की सबसे गम्भीर अवहेलना है। यह निश्चित है कि अपने स्वरूप में फिर स्थित हुए बिना भगवान् को जानना अथवा उनके भक्तियोग में निष्ठापूर्वक पूर्णरूप से सलग्न होना सम्भव नही है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

अनुवाद

जो जरा-मरण से मुक्ति के लिए यत्नशील है, वे सुधीजन मेरी भक्ति का आश्रय ग्रहण करते है। वे वास्तव में ब्रह्मभुत है, क्योंकि वे अध्यात्म और सकाम कर्म के तत्त्व को सम्पूर्ण रूप से जानते है।।२९।।

तात्पर्य

जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि आदि विकार जड़ देह को पीड़ित करते है, परन्तु दिव्य देह मे ऐसा नहीं है। दिव्य देह इन चारों विकारों के बिल्कुल मुक्त है। अत सिद्ध दिव्य देह को प्राप्त होकर जो जीव भगवान् का पार्षद बन जाता है और शाश्वत् भक्तियोग का आचरण करता है, वह यथार्थ मे मुक्त है। **अहं ब्रह्मास्मि**:, 'मैं आत्मतत्त्व हूँ।' शास्त्रों का निर्देश है कि अपने को ब्रह्म, अर्थात् आत्मतत्त्व समझे। यह ब्राह्मी धारणा भी भक्तियोग है, जैसा इस श्लोक मे कहा गया है। शुद्धभक्त ब्रह्मभुत हो जाते है, उन्हें प्राकृत-अप्राकृत क्रियाओ का पूर्णज्ञान रहता है।

भगवत्सेवा-परायण चारों प्रकार के अशुद्ध भक्तों की अभीष्ट-सिद्धि हो जाती है और अहैतुकी भगवत्कृपा से पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर वे भी भगवान् के सग का आस्वादन करते हैं। परन्तु देवोपासकों को परम धाम में श्रीभगवान् का सग कभी नहीं मिलता। अल्पज्ञ ब्रह्मज्ञानी भी श्रीकृष्ण के परम धाम गोलोक-वृन्दावन मे प्रवेश के अधिकारी नही है। एकमात्र कृष्णभावनाभावित क्रिया करने वालो (**माम् आश्रित्य**) को ही यथार्थ में 'ब्रह्म' कहा जा सकता है, क्योंकि श्रीकृष्णलोक की प्राप्ति के लिए वास्तव में वे ही यत्नशील है। इन भक्तों को श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में कोई सन्देह नही रहता। अत वे वस्तुतः **ब्रह्म** हैं।

बन्धन-मुक्ति के लिए जो भगवत्-अर्चा-भक्ति अथवा भगवत् ध्यान करते है,

वे श्रीभगवान् के अनुग्रह से ब्रह्म, अधिभूत आदि के तत्त्व को जान जाते हैं। अगले अध्याय में श्रीभगवान् ने यह सब वर्णन किया है।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०।।

अनुवाद

जो परमेश्वर, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के रूप में मेरे तत्त्व को जानते है, वे स्थिरचित्त से अन्तकाल में भी मुझ को जान सकते हैं।।३०।।

तात्पर्य

कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले पुरुष भगवान् के तत्त्वज्ञान के पथ से पूर्ण रूप से कभी नहीं भटक सकते। कृष्णभावनामृत के अलौकिक सत्सग मे यह बोध हो जाता है कि श्रीभगवान् ही अधिभूत एवं अधिदैव हैं। ऐसे दिव्य समागम मे शनै-शनै भगवान् मे विश्वास बढ़ता जाता है। इसलिए कृष्णभावनाभावित पुरुष अन्तकाल मे भी श्रीकृष्ण को नहीं भूलता। अतएव वह सहज ही भगवद्धाम गोलोक-वृन्दावन में प्रविष्ट हो जाता है।

इस सातवे अध्याय में पूर्ण कृष्णभावनाभावित होने की विधि का विशेष रूप मे प्रतिपादन है। कृष्णभावना का उन्मेष कृष्णभावनाभावित भक्तों के सत्सग से होता है। ऐसा भागवत-सत्सग साक्षात् श्रीभगवान् का सग देने वाला है। फिर भगवत्कृपा से श्रीकृष्ण की परम-ईश्वरता को बोध हो जाता है। साथ ही, यह ज्ञान भी होता है कि जीव वास्तव मे स्वरूप से श्रीकृष्ण का दास है, पर किसी कारणवश श्रीकृष्ण को भूल बैठता है और परिणाम में प्राकृत क्रियाओं के बन्धन में पड़ जाता है। सत्सग द्वारा कृष्णभावना का उत्तरोत्तर विकास करने पर जीव समझता है कि श्रीकृष्ण को भूल बैठने से ही वह माया के नियमो मे बँध गया है। तब वह यह भी समझ सकता है कि यह मनुष्य-शरीर एक ऐसा सुयोग है, जिसके द्वारा कृष्णभावना को फिर उद्भावित किया जा सकता है, अत अहैतुकी भगवत्कृपाकल्लोलिनी मे निमज्जन के लिए इसका पूरा सदुपयोग करना चाहिए।

अध्याय में अनेक तत्त्वों का निरूपण हुआ है—आर्त भक्त, जिज्ञासु भक्त, अर्थार्थी भक्त, ज्ञानीभक्त, ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान, जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एव भगवद्भक्ति आदि का यहाँ विवेचन किया गया। परन्तु जो वास्तव में कृष्णभावनाभावित हो गया है, उस पुरुष को अन्य पद्धतियों की अपेक्षा नहीं रहती। वह पूर्ण रूप से साक्षात् कृष्णभावनाभावित क्रियाओ के परायण होकर श्रीकृष्ण के नित्यदास

के रूप मे अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में वह भगवत्कथा के श्रवण तथा कीर्तन मे ही निरन्तर शुद्धभक्ति का आस्वादन करता है। उसे पूर्ण विश्वास रहता है कि केवल इतना करने से उसकी सर्वाभीष्ट सिद्धि हो जायगी। इस निश्चयात्मिका श्रद्धा को **दृढव्रत** कहा जाता है और यही भक्तियोग का प्रारम्भ है—ऐसा सम्पूर्ण शास्त्रों का निर्णय है। गीता का सातवाँ अध्याय इसी निश्चय का मूर्त सार-सर्वस्व है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये सप्तमोऽध्यायः ।।

अक्षरब्रह्मयोग

(भगवत्प्राप्ति)

अर्जुन उवाच।
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अनुवाद

अर्जुन ने जिज्ञासा की, हे देव! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म का क्या स्वरूप है? यह भौतिक सृष्टि क्या है? तथा अधिदैव क्या है? कृपया कहिये।।१।।

तात्पर्य

इस अध्याय मे भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के **किं तद्ब्रह्म**? आदि प्रश्नो का समाधान किया है। इसके अतिरिक्त, उन्होने कर्म, भक्ति, योगविधि और विशुद्ध भक्तियोग का भी वर्णन किया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार परतत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा एव भगवान्—इन तीन रूपो मे जाना जाता है। इसके अतिरिक्त, जीवात्मा

को भी ब्रह्म कहते हैं। अर्जुन ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है। वैदिक शब्दकोष के अनुसार 'आत्मा' शब्द प्रसंगानुसार मन, आत्मा, देह तथा इन्द्रियों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **पुरुषोत्तम** कहा, क्योंकि वह उन्हें केवल अपना सखा समझ कर नहीं, अपितु निर्णायक उत्तर देने में समर्थ परम प्रमाण पुरुषोत्तम जानकर जिज्ञासा कर रहा है।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

अनुवाद

हे मधुसूदन! यज्ञपुरुष इस शरीर में कैसे है और किस अंग के निवासी है? तथा भक्तियोगी अन्तकाल में आपको कैसे जान सकते है?।।२।।

तात्पर्य

यज्ञाधिपति (अधियज्ञ) का अर्थ विष्णु भी हो सकता है और इन्द्र भी। श्रीविष्णु ब्रह्मा-शिवादि सब देवों के आदिदेव है तथा इन्द्र प्रधान देवता हैं। इन्द्र और विष्णु, दोनों की यज्ञों द्वारा आराधना की जाती है। यहाँ अर्जुन की जिज्ञासा है कि वास्तव में **अधियज्ञ** कौन है तथा जीव की देह में किस प्रकार से है।

अर्जुन ने श्रीभगवान् को **मधुसूदन** सम्बोधित किया है, यह स्मरण कराने के लिए कि एक समय उन्होंने मधु दैत्य का संहार किया था। वास्तव में अर्जुन के चित्त में इन सब संदेहमूलक प्रश्नों को नहीं उठना चाहिए था, क्योंकि वह कृष्णभावनाभावित है। इसलिये ये सन्देह असुरों के समान है और श्रीकृष्ण असुर संहार में अति कुशल है। अर्जुन ने उन्हें यहाँ **मधुसूदन** कहकर पुकारा, जिससे वे उसके चित्त के सन्देह रूपी असुरों को नष्ट कर दें।

इस श्लोक में **प्रयाणकाले** पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम जीवनभर जो कुछ भी करते है, उसकी अन्तकाल में परीक्षा होती है। अर्जुन को भय है कि जो कृष्णभावनाभावित है, वे भी मृत्यु-समय श्रीभगवान् को भूल सकते है। कारण, उस काल में देह के सब कार्य रुक जाते हैं और मन भयरूप मोह में अति व्याकुल हो उठता है। इसी कारण महाभागवत कुलशेखर महाराज की प्रार्थना है, 'प्रभो! इस स्वस्थ अवस्था में ही मेरी तुरन्त मृत्यु हो जाय, जिससे मेरा मन रूपी राजहंस सुगमता से आपके चरणारविन्द की कर्णिका में प्रवेश कर सके।'' यहाँ राजहंस के रूपक का उल्लेख इसलिये है कि प्रायः कमलकर्णिका में प्रवेश करके हंस आनन्दित होता है। शुद्ध भक्त का चित्त भी श्रीभगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश करने को सदा

आतुर रहता है। महाराज कुलशेखर को भय है कि अन्त समय में उनका कण्ठ कफ और वात से इतना अधिक स्तंभित हो जायगा कि वे भगवन्नाम का कीर्तन भी नहीं कर सकेंगे। इसलिए इस समय जबकि शरीर सब प्रकार से स्वस्थ है, देह को त्याग देना श्रेयस्कर होगा। अर्जुन की जिज्ञासा है कि ऐसे अवसरों पर किस साधन से मन कृष्णचरणाम्बुज में निश्चल रह सकता है।

श्रीभगवानुवाच।
अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, अविनाशी जीवात्मा को ब्रह्म कहते हैं, उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म है और इन प्राकृत देहों की सृष्टिरूप कार्य कर्म कहलाता है।।३।।

तात्पर्य

ब्रह्म का स्वरूप अविनाशी, नित्य और अव्यय (अविकारी) है। परन्तु इस ब्रह्म से परे परब्रह्म भी है। **ब्रह्म** शब्द से जीवात्मा निर्दिष्ट है, जबकि **परब्रह्म** शब्द स्वयं भगवान् का वाचक है। जीव का स्वरूप उस स्थिति से भिन्न है जो उसने जगत् में ग्रहण कर रखी है। मोहावस्था में वह प्रकृति पर प्रभुत्व करने का प्रयास करता है, परन्तु दिव्य कृष्णभावना से भावित हो जाने पर केवल भगवत्सेवा करना चाहता है। मायामोहित जीव संसार में विभिन्न देह धारण करने को बाध्य है। इसी का नाम **कर्म** अथवा मोहमयी विषयैषणा से उत्पन्न होने वाली नानाविध सृष्टि है।

वैदिक शास्त्रों में जीवात्मा को ब्रह्म कहा है, उसके लिए **परब्रह्म** संज्ञा का प्रयोग कहीं नहीं है। जीवात्मा नाना स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी माया के अन्धकारमय अवगाह में निमज्जित होकर जड़-तत्त्व को अपना स्वरूप मान बैठता है तो कभी पराशक्ति को। इसी कारण उसे श्रीभगवान् की 'तटस्था शक्ति' कहा गया है। अपरा अथवा परा प्रकृति में स्थिति के अनुसार उसे क्रमशः पाँचभौतिक अथवा अप्राकृत देह मिलती है। अपरा प्रकृति में ८४,००,००० योनियों में से कोई देह मिल सकती है, जबकि परा प्रकृति में एक ही प्रकार का दिव्य शरीर मिलता है। अपरा प्रकृति में वह कर्मानुसार देव, पशु पक्षी आदि किसी एक शरीर में जाता है। प्राकृत स्वर्गीय लोकों में पहुँचकर उनमें उपलब्ध विषयसुख के उपभोग के लिए वह कभी-कभी यज्ञ करता है, पर पुण्य के क्षीण हो जाने पर मानव योनि में पृथ्वी पर फिर से लौटना पड़ता है।

यज्ञपद्धति मे जीवात्मा अभीष्ट लोक की प्राप्ति के लिए विशिष्ट यज्ञ करता है और फलस्वरूप अपने इच्छित लोक में पहुँच जाता है। फिर यज्ञजन्य पुण्य के समाप्त हो जाने पर वह वर्षा के रूप में पृथ्वी पर उतर कर अन्न का रूप धारण कर लेता है। मनुष्य उस अन्न को खा कर वीर्य में परिणत कर देता है, जिससे स्त्री में गर्भाधान होता है। इस प्रकार, जीवात्मा फिर मनुष्य-शरीर धारण कर यज्ञ करता है। यह चक्र इसी प्रकार चल रहा है। परिणामस्वरूप जीव जन्म-मृत्यु रूप भवबन्धन में ही भटकता रहता है। परन्तु जो कृष्णभावनाभावित है, वह ऐसे यज्ञों को नहीं करता, वह सीधे-सीधे कृष्णभावना को अंगीकार कर लेता है और इस विधि से भगवद्धाम को फिर लौटने के लिए कटिबद्ध रहता है।

गीता के निर्विशेषवादी व्याख्याकारो का अयुक्तियुक्त पूर्वाग्रह है कि प्राकृत-जगत् में परब्रह्म ने जीवत्व धारण कर लिया है। इसको प्रमाणित करने के लिए वे गीता के पन्द्रहवे अध्याय के सातवे श्लोक को उद्धृत करते है। परन्तु इस श्लोक में भी जीव को **ममैवांशो**, अर्थात् **श्रीभगवान का नित्य भिन्न-अंश** कहा गया है। श्रीभगवान् का भिन्न-अंश जीव ससार मे गिर सकता है, पर अच्युत कहलाने वाले परमेश्वर श्रीकृष्ण का पतन कभी नही होता। अत इस धारणा को स्वीकार नही किया जा सकता कि परब्रह्म जीवरूप ग्रहण करते है। स्मरणीय है कि वैदिक शास्त्रो में ब्रह्म (जीवात्मा) और परब्रह्म (परमेश्वर श्रीभगवान्) में स्पष्ट भेद है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

अनुवाद

नित्य परिवर्तनशील प्रकृति अधिभूत है, विराट् पुरुष अधिदैव है और हे देहधारियो मे श्रेष्ठ अर्जुन! जीवमात्र के हृदय में रहने वाला मै ही अधियज्ञ हूँ।।४।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

अनुवाद

जो कोई अन्तकाल मे मेरा स्मरण करता हुआ देह को त्यागता है, वह तत्काल मेरे स्वभाव को प्राप्त हो जाता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।।५।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

अनुवाद

जिस-जिस भी भाव का स्मरण करते हुए जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही नि सन्देह प्राप्त होता है, क्योंकि वह जीवन मे सदा उसी भाव से भावित रहा है।।६।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।।७।।

अनुवाद

इसलिए हे अर्जुन! तू मेरे कृष्णरूप का निरन्तर चिन्तन कर और साथ-साथ युद्धरूपी स्वधर्म का आचरण भी कर। इस प्रकार अपनी क्रियाओ को मेरे अर्पण करके मन-बुद्धि को मुझमे एकाग्र करने मे तू नि सन्देह मुझ को ही प्राप्त होगा।।७।।

तात्पर्य

अर्जुन को भगवान् का यह उपदेश सभी लौकिक कर्मपरायण मनुष्यो के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। श्रीभगवान् ने स्वधर्म-त्याग का आदेश नही दिया है। कर्तव्य-पालन किया जा सकता है, परन्तु साथ ही **हरेकृष्ण** महामन्त्र का जप करते हुए श्रीकृष्ण का स्मरण रखना चाहिए। इसमे सासारिक दोषो से मुक्ति हो जायगी और मन-बुद्धि श्रीकृष्ण मे अनुरक्त हो जायेगे। कृष्णनाम-सकीर्तन करने से नि सन्देह परमधाम कृष्णलोक की प्राप्ति हो जाती है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

अनुवाद

हे पार्थ (अर्जुन)! जो पुरुष अनन्य चित्त से निरन्तर परम पुरुष के स्मरण का अभ्यास करता है, वह नि सन्देह मुझ को ही प्राप्त होता है।।८।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

अनुवाद

उन परम पुरुषोत्तम का ध्यान करे जो सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता और शिक्षक, अणु मे भी सूक्ष्म, सर्वपालक, जगत् से परे अचिन्त्य पुरुष है। वे सूर्य के समान तेजोमय और

दिव्यस्वरूप है—इस भौतिक प्रकृति से परे है।।९।।

तात्पर्य

यहाँ अनन्य भगवच्चिन्तन करने की पद्धति का प्रतिपादन है। सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि परमेश्वर निर्विशेष अथवा शून्य नही है। निर्विशेष अथवा शून्य वस्तु कभी ध्यान का विषय नही हो सकती। निर्विशेष अथवा शून्य का ध्यान करना बहुत कठिन होगा। परन्तु श्रीकृष्ण का स्मरण अतिशय सुगम है, जैसा इस श्लोक मे स्पष्ट कहा है। इसलिए सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि भगवान् राम-कृष्ण आदि रूपो मे दिव्य पुरुष है। उन्हे **कविम्** कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे त्रिकालज्ञ है। सबके आदि होने के कारण **पुराण** है, प्रत्येक वस्तु का उद्भव उन से हुआ है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता है और मानवता के परिपालक तथा उपदेष्टा भी है। वे अणु मे भी सूक्ष्मतर है। जीवात्मा केश की नोक के १०,०००वे भाग के बराबर है, परन्तु प्रभु की सूक्ष्मता इतनी अचिन्त्य है कि वे इस जीवाणु के हृदय मे भी प्रविष्ट रहते है। अत उन्हे **अणोरणीयासम्** कहा गया है। इतने सूक्ष्म होने पर भी वे सर्वव्यापक एवं सर्वपालक है और सब लोको को धारण करते हैं। हमे प्राय आश्चर्य होता है कि ये वृहत्काय लोक अन्तरिक्ष में किस प्रकार स्थिर है। यहाँ उल्लेख्य है कि अपनी अचिन्त्य-शक्ति द्वारा श्रीभगवान् इन भीमकाय लोको तथा नक्षत्रो को धारण कर रहे है। इस सन्दर्भ मे **अचिन्त्य** शब्द महत्त्वपूर्ण है। हमारी धारणा तथा चिन्तन-परिधि से परे होने के कारण भगवत्-शक्ति को **अचिन्त्य** कहा जाता है। इस सन्दर्भ मे कोई तर्क क्या करेगा ? प्राकृत-जगत् मे व्याप्त होने पर भी प्रभु इससे सर्वथा परे है। हमारे लिए तो यह पूरा जगत् भी, जो भगवद्धाम् की तुलना मे नगण्य है, बुद्धिगम्य नही, फिर इससे परे का तत्त्व क्योकर तर्क का विषय होगा ? **अचिन्त्य** शब्द उस तत्त्व का वाचक है, जिसका हमारे तर्क, न्याय-युक्ति तथा दार्शनिक मनोधर्म आदि स्पर्श तक नही कर सकते। अत सुधीजनो को चाहिए कि निरर्थक तर्क और मनोधर्मी करने के स्थान पर वेद, गीता, श्रीमद्भागवत, आदि शास्त्रो के कथन को प्रमाण मानकर उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो का अनुसरण करें। इस साधन से ज्ञानप्राप्ति हो जायगी।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

अनुवाद

जो पुरुष अन्तकाल मे अपने प्राणो को भृकुटी के मध्य मे स्थापित करके पूर्ण भक्तिभाव से भगवत्स्मरण करता है, वह नि सन्देह श्रीभगवान् को प्राप्त हो जाता है।।१०।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

अनुवाद

ओंकार का उच्चारण करने वाले वेदवादी विद्वान और अनासक्त महर्षि जिस ब्रह्म मे प्रवेश करते है, जिस ससिद्धि के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का सेवन किया जाता है, तेरे लिए अब मै उसी मुक्तिपथ का वर्णन करूँगा।।११।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

अनुवाद

इन्द्रियक्रियाओ की निवृत्ति को योगधारणा कहा जाता है। सम्पूर्ण इन्द्रियद्वारों को विषयो से हटाकर जो मन को हृदय मे तथा प्राणवायु को मस्तक में स्थापित करता है वह मेरे ध्यानरूप योग में स्थित हो जाता है।।१२।।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

अनुवाद

इस योगधारणा मे स्थित होकर अक्षरब्रह्म पवित्र ओंकार के उच्चारण के साथ जो मेरा स्मरण करते हुए देह त्यागता है, वह निःसन्देह भगवद्धाम को प्राप्त होता है।।१३।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

अनुवाद

जो नित्य-निरन्तर अनन्य भाव से मेरा स्मरण करता है, उस के लिए हे अर्जुन ! मै सुलभ हूँ, क्योंकि वह नित्य मेरे भक्तियोग के परायण रहता है।।१४।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

अनुवाद

मुझ को प्राप्त हुए भक्तियोगी महात्माजनों का इस दुःखों से भरे अनित्य जगत्

में फिर जन्म नहीं होता, क्योंकि वे परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।।१५।।

तात्पर्य

यह अनित्य प्राकृत-जगत् जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिरूप दुःखों से पूर्ण है। इसलिए यह स्वाभाविक सा है कि जो पुरुष परम संसिद्धि-लाभ करके परमधाम कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन को प्राप्त हो गया है, वह वहाँ लौटने की इच्छा नहीं करता। वैदिक शास्त्रों के अनुसार परमधाम हमारी प्राकृत धारणा से अति परे है, वही परम लक्ष्य है। महात्माजन भगवत्प्राप्त भक्तों के मुखारविन्द से निस्यन्दित भगवत्-कथामृत को कर्णपुटों से पीकर क्रमशः कृष्णभावनाभावित भक्तियोग का विकास करते हैं। इस प्रकार वे भगवत्सेवा में इतने निमग्न रहते हैं कि किसी उच्च लोक अथवा परव्योम में जाने की इच्छा उनके मन में कभी नहीं उठती। उन्हें नित्य श्रीकृष्ण के सान्निध्य की ही अभिलाषा रहती है; वे और कुछ नहीं चाहते। इस कोटि के कृष्णभावनाभावित महात्मा जीवन की परम संसिद्धि को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव वे परम श्रेष्ठ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अनुवाद

हे अर्जुन! प्राकृत जगत् में सबसे ऊपर ब्रह्मलोक से लेकर नीचे तक सब के सब लोक बारम्बार जन्म-मृत्यु रूपी क्लेश से पूर्ण हैं। परन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त हो जाता है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।।१६।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके संसार में कभी न लौटना पड़े, इसके लिए कर्म, ज्ञान हठ आदि अन्य सब योगों का अभ्यास करने वालों को भक्तियोग अथवा कृष्णभावनामृत की परम संसिद्धि को प्राप्त करना आवश्यक है। परमोच्च प्राकृत लोक अथवा देवलोकों में प्रवेश करने वाले भी जन्म-मृत्यु के चक्र के आधीन बने रहते हैं; उससे मुक्त नहीं हो पाते। जिस प्रकार पृथ्वीवासी उच्च लोकों को जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म, चन्द्र, इन्द्र आदि उच्च लोकों के निवासियों का इस लोक में पतन होता है। 'कठोपनिषद्' मे उल्लिखित 'पञ्चाग्नि विद्या' द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है; परन्तु यदि ब्रह्मलोक में कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं किया जाय तो कुछ काल बाद पृथ्वी पर फिर लौटना होगा। जो उच्च लोकों में कृष्णभावनामृत का आचरण करते है, वे उत्तरोत्तर उच्चलोकों को जाते हैं और फिर महाप्रलय होने पर नित्य

भगवद्धाम पहुँचते हैं। इसी प्रकार प्राकृत-जगत् में प्रलय हो जाने पर ब्रह्मा और उनके भक्त, जो निरन्तर कृष्णभावना-परायण हैं, परव्योम में पहुँचकर इच्छानुसार वैकुण्ठ लोकों में प्रवेश करते हैं।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

अनुवाद

मानवीय गणना के अनुसार ब्रह्मा के एक दिन की अवधि एक हजार चतुर्युग है और इतनी ही बढी उसकी रात्रि है।।१७।।

तात्पर्य

प्राकृत ब्रह्माण्ड की अवधि परिमित है। इसका प्राकट्य कल्पचक्र में होता है। ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। इस एक कल्प में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—ये चारों युग एक हजार बार व्यतीत हो जाते है। सत्ययुग के लक्षण हैं सदाचार, बुद्धिमानी और धर्म, अज्ञान और पाप का अत्यन्त अभाव। यह युग १७,२८,००० वर्ष तक रहता है। त्रेता में पापकर्म होने लगता है। इस युग की अवधि १२,९६,००० वर्ष है। द्वापर में धर्म का ह्रास बढ़ जाता है और अधर्म का अभ्युत्थान हुआ करता है। इस युग की अवधि ८,६४,००० वर्ष है। सबके अन्त में कलियुग (जिसका हम पिछले ५,००० वर्ष से अनुभव कर रहे हैं) आता है। इसमें कलह, अज्ञान, अधर्म और पापाचार का प्राबल्य रहता है तथा यथार्थ धर्माचरण प्राय लुप्त हो जाता है। इस युग का काल ४,३२,००० वर्ष है। कलियुग मे अधर्म इतना अधिक बढ़ता है कि युग के अन्त में श्रीभगवान् स्वयं कल्कि अवतार ग्रहण कर दैत्यों का मर्दन और निज भक्तों का परित्राण करके नये सत्ययुग का सूत्रपात करते हैं। स्रष्टा ब्रह्मा के एक दिन में ये चारों युग एक-एक हजार बार व्यतीत हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि भी इतनी ही बड़ी है। इतने बड़े दिन-रात वाले सौ वर्ष तक जीवन-धारण करके ब्रह्मा का निधन हो जाता है। ये 'सौ वर्ष' पृथ्वी के ३१,१०,००,०४,००,००,००० वर्षों के तुल्य हैं। इस गणना के अनुसार, ब्रह्मा की आयु विलक्षण और कभी न समाप्त होने वाली प्रतीत हो सकती है; पर नित्यता की दृष्टि से तो वह बिजली के कौंधने के समान ही है। आन्ध्र महासागर के बुद्बुदों के समान कारण-समुद्र में असंख्य ब्रह्माओं का नित्य उदय-विलय होता रहता है। प्राकृत-जगत् के अंश —ब्रह्मा और उसकी सृष्टि नित्य परिवर्तनशील हैं।

प्राकृत-जगत् मे ब्रह्मा तक जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के चक्र से मुक्त नहीं

है। फिर भी, इस जगत् की व्यवस्था के रूप में साक्षात् भगवत्सेवा करने से ब्रह्मा की सद्योमुक्ति हो जाती है। उच्च संन्यासी ब्रह्मा के उस विशिष्ट ब्रह्मलोक को जाते हैं, जो प्राकृत-जगत् में सर्वोच्च है और जो अन्य स्वर्गीय लोकों का विनाश हो जाने पर शेष रहता है। परन्तु भौतिक प्रकृति के नियमानुसार, ब्रह्मा और ब्रह्मलोक के सारे निवासियों की भी यथासमय मृत्यु हो जाती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके।।१८।।

अनुवाद

ब्रह्मा के दिन के आने पर यह जीव-समूह अव्यक्त से प्रकट होता है और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर फिर उसी में लय हो जाता है।।१८।।

तात्पर्य

अल्पज्ञ जीव इसी संसार में रहने के लिये यत्न किया करते हैं; फलस्वरूप नाना लोकों में उनका क्रमशः उत्थान-पतन होता रहता है। वे ब्रह्मा के दिन में अपने कार्य-कलापों को प्रकट करते हैं और ब्रह्मा की रात्रि का आगमन होने पर पुनः अव्यक्त में उनका विलय हो जाता है। ब्रह्मा के दिन में उन्हें विविध कलेवरों की प्राप्ति होती है और रात्रि होने पर ये कलेवर नष्ट हो जाते हैं। इस समय जीव श्रीविष्णु के वपु में रहते हैं। ब्रह्मा के दिवस की आवृत्ति के साथ वे फिर अभिव्यक्त हुआ करते हैं। ब्रह्मा के जीवन-काल की समाप्ति होने पर वे सभी विलीन होकर करोड़ों वर्ष तक अव्यक्त रहते हैं। फिर अगले युग में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होता है और वे भी फिर से व्यक्त होते हैं। इस प्रकार जीव प्राकृत-जगत् में बद्ध बना रहता है। परन्तु जो सुधीजन कृष्णभावनामृत को अंगिकार कर भक्तियोग के साथ हरे कृष्ण हरे राम कीर्तन करते हैं, वे इसी जीवन में श्रीकृष्ण के दिव्य धाम में प्रवेश करके पुनर्जन्म से रहित सच्चिदानन्दमय जीवन को प्राप्त कर लेते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

अनुवाद

वही यह जीव-समुदाय प्रकट हो-होकर रात्रि के आने पर लय होता है और दिन के आने पर कर्म के वश हुआ फिर व्यक्त होता है।।१९।।

परस्तस्मात्तु भावाऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।२०।।

अनुवाद

इस व्यक्त-अव्यक्त होने वाली जड़ प्रकृति से परे एक अन्य सनातन प्रकृति भी है, जो परा और अविनाशी है। इस संसार के नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता।।२०।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अनुवाद

वह परमधाम अव्यक्त अक्षर कहलाता है और वही परम गति है। जहाँ जाने वाला संसार मे फिर नही आता, वही मेरा परमधाम है।।२१।।

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण के परमधाम को 'ब्रह्मसंहिता' मे **चिन्तामणिधाम** कहा गया है, जहाँ सब कामनाये पूर्ण हो जाती है। गोलोक-वृन्दावन नामक श्रीकृष्ण का परमधाम चिन्तामणि से रचित प्रासादो से परिपूर्ण है। वहाँ के वृक्ष कल्पतरु है, जो इच्छा करने मात्र से कोई भी पदार्थ दे सकते है, वहाँ की 'सुरभि' गाएँ अपरिमित मात्रा मे दुग्धामृत प्रदान करती है। इस धाम मे प्रभु सहस्रो लक्ष्मियो द्वारा सेवित है। वे सब कारणो के कारण आदिपुरुष 'गोविन्द' नाम से जाने जाते है। श्रीकृष्ण विदग्ध वेणुवादन-निरत है **(वेणुं क्वणन्तम्)**। उनका दिव्य श्रीविग्रह त्रिभुवन मे परमाकर्षक है—नयन कमलदल के तुल्य है और विग्रह का वर्ण है नवोदित घनश्याम। उनकी सुरम्यागता कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्प-दलन है। वे शरीर पर पीताम्बर, कण्ठ मे वैजयन्ती माला एवं केशराशि मे मोरमुकुट धारण किए हुए है। गीता मे भगवान् श्रीकृष्ण ने परव्योम के परमलोक—अपने निजधाम (गोलोक-वृन्दावन) का दिग्दर्शन मात्र कराया है। परन्तु 'ब्रह्मसंहिता' में उसका विशद वर्णन है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार भगवद्धाम से उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है, इसलिए वही परमगति है। उसमें प्रविष्ट प्राणी प्राकृत-जगत् में फिर कभी नही आता। श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के परमधाम में भेद नहीं है, दोनों समान दिव्यगुणो से युक्त हैं। इस पृथ्वी पर, दिल्ली मे नब्बे मील दक्षिण-पूर्व में स्थित वृन्दावन परव्योम के उसी गोलोक-वृन्दावन का प्रतिरूप है। श्रीकृष्ण ने धराधाम पर अवतरित होकर इस वृन्दावन धाम में दिव्य लीलारस का परिवेषण किया था।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

अनुवाद

वे परम पुरुष भगवान् अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकते हैं। अपने परमधाम में विराजमान होते हुए भी वे सर्वत्र व्याप्त है और सभी कुछ उन मे स्थित है।।२२।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

अनुवाद

हे भारत ! अब मैं तेरे लिए उन दोनों कालों का वर्णन करूँगा जिनमें से एक में तो ससार से प्रयाण करने पर ससार में फिर आना होता है और दूसरे में जाने पर ससार में फिर जन्म नहीं होता।।२३।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् के पूर्ण शरणागत अनन्यभक्तो को यह चिन्ता नही सताती कि उनका देह-त्याग किस समय होगा अथवा किस प्रकार से होगा। वे सब कुछ श्रीकृष्ण की इच्छा पर छोड़ देते हैं और इस प्रकार सुखपूर्वक भगवद्धाम को प्राप्त हो जाते हैं। परन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं, जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग आदि अन्य साधनों पर निर्भर हैं, उनके लिए आवश्यक है कि किसी उपयुक्त काल में देहत्याग करे, जिससे उन्हे यह निश्चय रहे कि जन्म-मृत्युमय संसार मे उन्हें फिर नहीं आना पड़ेगा।

सिद्ध योगी इच्छा के अनुसार ससार से जाने के देश-काल को चुन सकता है। परन्तु जो सिद्ध नहीं हुआ है, उसे प्रकृति के इच्छानुसार देह-त्याग करना होगा। श्रीभगवान् ने इस प्रकरण मे उस काल का वर्णन किया है, जो आवागमन से मुक्ति के लिए सब से उपयुक्त है। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ प्रयुक्त **काल** शब्द कालाभिमानी देवता का वाचक है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अनुवाद

जिस मार्ग में ज्योतिर्मय अग्नि का अभिमानी देवता है, दिन का अभिमानी देवता है, शुक्लपक्ष का अभिमानी देवता है और उत्तरायण का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में देह को त्याग कर गये हुए ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं।।२४।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

अनुवाद

और जिस मार्ग में धूमाभिमानी देवता है, रात्रि का अभिमानी देवता है, कृष्णपक्ष का अभिमानी देवता है और दक्षिणायन के छः मासों का अभिमानी देवता है, उस मार्ग में गया योगी चन्द्रलोक को प्राप्त होकर संसार में फिर आता है।।२५।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

अनुवाद

वेदो के मत में इस जगत् से प्रयाण करने के—शुक्ल (प्रकाश) और कृष्ण (अन्धकार), यही दो मार्ग हैं। शुक्ल-गति से गए हुए का पुनरागमन नही होता और अन्धकारमय गति से प्रयाण करने वाला संसार में फिर आता है।।२६।।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

अनुवाद

इन दोनो मार्गों के तत्त्व को जानकर भक्त कभी मोहित नहीं होता। इसलिए हे अर्जुन! तू सदा भक्तियोग से युक्त हो।।२७।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन को परामर्श देते हैं कि वह इस बात से चिन्तित न हो कि प्राकृत-जगत् को त्याग कर जाता हुआ जीवात्मा इनमें से किसी भी मार्ग को ग्रहण कर सकता है। भगवद्भक्त को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि संसार से उसका प्रयाण उसकी अपनी इच्छा के अनुसार होगा अथवा दैवयोग से होगा । उसे तो बस सदा कृष्णभावना मे दृढ़तापूर्वक निष्ठ रहकर **हरे कृष्ण** जप-कीर्तन करते रहना चाहिए। वह यह जान ले कि इनमें से किस मार्ग की प्राप्ति होगी, यह चिन्ता केवल दुःख का कारण है। कृष्णभावनाभावित होने का सर्वोत्तम साधन भगवत्सेवामृत में तन्मय हो जाना है। इससे भगवद्धाम-प्राप्ति का पथ निरापद, निश्चित और प्रत्यक्ष हो जायगा। श्लोक में आया **योगयुक्त** पद विशेष रूप से सारगर्भित है। जो योग में दृढ़ है, उसकी सब क्रियायें कृष्णभावनाभावित होती हैं। श्रील रूप गोस्वामिचरण का सदुपदेश है कि जगत् में अनासक्त रहे, और सम्पूर्ण कार्य-कलाप कृष्णभावनाभावित हों। इस रीति से

परमसिद्धि सुलभ हो जाती है। अतएव इस सब विवरण से भक्त कभी चिन्तित नहीं होता। वह जानता है कि भक्तियोग के प्रताप से भगवद्धाम में उसका प्रवेश निश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

अनुवाद

भक्तियोगी वेद-स्वाध्याय, तप, यज्ञ, दान तथा दार्शनिक-सकाम क्रियाओं के सम्पूर्ण पुण्यफल का उल्लंघन कर अन्त में मेरे अनादि परम धाम को प्राप्त हो जाता है।।२८।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः।।८।।

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये अष्टमोऽध्यायः।।

अथ नवमोऽध्यायः

राजविद्याराजगुह्ययोग

(परम गोपनीय ज्ञान)

श्रीभगवानुवाच।
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

अनुवाद

श्रीभगवान् ने कहा, हे अर्जुन! तुझ ईर्ष्यारहित शुद्धभक्त के लिए इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञान सहित कहूँगा, जिसे जानकर तू संसार के क्लेशों से मुक्त हो जायगा।।१।।

तात्पर्य

भक्त भगवान् की कथा को जितना अधिक सुनता है, उतना ही प्रबुद्ध होता जाता है। इस श्रवण-पद्धति की महिमा का श्रीमद्भागवत में गान है, 'श्रीभगवान् की कथा दिव्य शक्तियों से पूर्ण है, जिनकी अनुभूति भक्तों की गोष्ठी में उत्सुकतापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण-कीर्तन करने से होती है। मनोधर्मियों अथवा लौकिक विद्वानों के

सग से इस विज्ञान को नहीं जाना जा सकता।'

भगवद्भक्त नित्य-निरन्तर भगवत्सेवा के परायण रहते हैं। कृष्णभावना-परायण जीव के मनोभाव और निष्कपटता को जानने वाले श्रीभगवान् उसे वह बुद्धि देते हैं, जिससे वह भक्तों के संग में उनके तत्त्व को हृदयंगम कर ले। श्रीकृष्ण-विषयक चर्चा में अलौकिक शक्ति है। यदि किसी सौभाग्यशाली को ऐसा सत्संग सुलभ है और वह इस ज्ञान के लिए प्रयत्नशील है, तो भगवत्प्राप्ति के पथ में उसकी प्रगति निश्चित है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपनी सर्वसमर्थ सेवा के उत्तरोत्तर उत्तम स्तर को प्राप्त करने के लिए उत्साहित करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने इस नौवें अध्याय में उस रहस्य का वर्णन किया है, जो सम्पूर्ण पूर्व विषय से अधिक गोपनीय है।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रन्थ का उपोद्घात है। दूसरे और तीसरे अध्याय में आये मोक्षोपयोगी ज्ञान को **गुह्य** (गोपनीय) कहा गया है। सातवें तथा आठवें अध्याय का विषय विशेष रूप से भक्तियोग से सम्बन्धित है। कृष्णभावनामृत का प्रकाशक होने से यह प्रकरण **गुह्यतर** (अधिक गोपनीय) है। परन्तु नौवें अध्याय में तो केवल शुद्धभक्ति का वर्णन है। इसलिए यह अध्याय **परम गुह्यतम्** (परम गोपनीय) है। श्रीकृष्ण के परम गोपनीय ज्ञान से युक्त महानुभाव निस्सन्देह प्रकृति से परे हो जाता है; प्राकृत जगत् में रहते हुए भी उसे कोई सांसारिक दु:ख नही सताता। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में कथन है कि जो पुरुष वास्तव में सदा श्रीभगवान् की प्रेममयी सेवा के लिए उत्कण्ठित रहता है, वह संसार-बन्धन में प्रतीत होने पर भी वास्तव में मुक्त है। भगवद्गीता के दसवें अध्याय में श्रीभगवान् ने स्वय कहा है कि जो इस प्रकार भक्तियोग के परायण है, वह पुरुष जीवन्मुक्त है।

इस प्रथम श्लोक का विशेष महत्त्व है। **इदं ज्ञानम्** का अभिप्राय शुद्ध भक्तियोग से है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और सर्वात्म-समर्पण—भक्तियोग के इन नौ अंगों के आचरण से कृष्णभावनामृत प्राप्त होती है। हृदय-शुद्धि हो जाने पर ही इस कृष्णविज्ञान को जाना जा सकता है। केवल यह जानना पर्याप्त नहीं कि जीवात्मा अप्राकृत है। यह तो भगवत्प्राप्ति के पथ का केवल प्रथम चरण है। वास्तव में जीव के लिए शारीरिक क्रियाओं और अप्राकृत क्रियाओं के भेद को जानना आवश्यक है; इससे यह जागृति होती है कि 'मैं देह नहीं हूँ।'

सातवें अध्याय में श्रीभगवान् की ऐश्वर्यशालिनी सामर्थ्य, परा-अपरा आदि नाना शक्तियों और इस प्राकृत सृष्टि का वर्णन हुआ । सम्प्रति, नौवें और दसवें

अध्याय में भगवान् की कीर्ति का गान है।

अनसूयवे पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः उच्च विद्वान् होने पर भी गीता के प्रायः सभी व्याख्याकार भगवान् श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। बड़े से बड़े विद्वान् तक भगवद्गीता की बिल्कुल अशुद्ध व्याख्या कर बैठते हैं। उनके भाष्य बिल्कुल निरर्थक हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्ण के प्रति ईर्ष्या से भरे हैं। भगवद्भक्तों द्वारा रचित टीकायें ही प्रामाणिक मान्य हैं। जो श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करता है, वह न तो भगवद्गीता का वर्णन कर सकता है और न श्रीकृष्ण का पूर्ण ज्ञान ही दे सकता है। जो श्रीकृष्ण के तत्त्व को न जानते हुए उनके चरित्र पर आक्षेप करता है, वह मूढ़ है। अतः ऐसे भाष्यों को बड़ी सावधानी से त्याग देना चाहिए। जो पुरुष जानता है कि श्रीकृष्ण शुद्ध दिव्य पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं, उसके लिए ये अध्याय परम कल्याणकारी हैं।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

अनुवाद

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा, सम्पूर्ण गोपनीय रहस्यों का राजा, परम शुद्ध और स्वरूप-साक्षात्कार कराने वाला परम धर्म है। यह अविनाशी है और साधन करने में बड़ा सुगम है।।२।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

अनुवाद

हे शत्रुविजयी अर्जुन! जो इस भक्तियोग के पथ में श्रद्धाहीन हैं, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वे इस मृत्युरूप संसार में ही बारम्बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं।।३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

अनुवाद

मेरे प्राकृत इन्द्रियों से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ।।४।।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को कुंठित जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह सिद्धान्त है कि भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीला-विलास आदि को जड़ इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो प्रामाणिक आचार्य के आश्रय में शुद्ध भक्तियोग के परायण है, उस भक्त के हृदय में ही वे प्रकट होते हैं। 'ब्रह्मसंहिता' में उल्लेख है, **प्रेमाञ्जनच्छुरित**—भगवान् गोविन्द के प्रति अनुरागमय प्रेमभाव का सेवन करने से अन्तर में और बाहर भी उनका दर्शन नित्य प्राप्त रहता है। अत· जनसाधारण के लिए वे अगोचर हैं। यहाँ उल्लेख है कि यद्यपि वे सर्वव्यापक हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं, पर जड़ इन्द्रियों से उनकी अनुभूति नहीं होती। परन्तु चाहे हम उन्हें देख नहीं सकते, फिर भी सब कुछ वस्तुतः उन्हीं के आश्रय में स्थित है। सातवें अध्याय के अनुसार, सम्पूर्ण विश्वीय सृष्टि उनकी परा-अपरा नामक शक्तियों का समुच्चयमात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूर्यकिरणराशि के विस्तार के समान भगवत्-शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में विस्तीर्ण हो रही है; सब कुछ उसी के आश्रय में है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि श्रीभगवान् सर्वव्याप्त हैं, इसलिए उनका अपना निजी स्वरूप समाप्त हो गया है। इस कुतर्क का निराकरण करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं, 'मैं सर्वव्यापक हूँ और सब कुछ मेरे आश्रित है, फिर भी इस सम्पूर्ण सृष्टि से मैं असंग हूँ।' उदाहरणस्वरूप, राजा अपने प्रशासन का अधीश्वर होता है, प्रशासन उसकी शक्तियों का एक प्रकाशमात्र है। विविध प्रशासकीय विभाग राजा की विभिन्न शक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक विभाग राजा की सामर्थ्य पर आश्रित है। परन्तु राजा से यह आशा नही की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वय उपस्थित रहेगा। यह एक स्थूल उदाहरण है। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देखते हैं, प्राकृत-अप्राकृत जितनी सृष्टि है, वह सब श्रीभगवान् की शक्ति पर आश्रित है। उनकी विभिन्न शक्तियों के प्रसारण से सृष्टि होती है और जैसा भगवद्गीता में कहा है, अपनी शक्तियो के प्रसारण और स्वाश-प्रकाश के रूप में वे सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥५॥

अनुवाद

और यह सृष्टि भी मुझमें स्थित नहीं है। मेरे इस योगैश्वर्य को देख! सम्पूर्ण जीवों को धारण-पोषण और उत्पन्न करने वाला होने पर भी मेरा आत्मा उनमें स्थित नहीं है॥५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

अनुवाद

जैसे सब ओर विचरणशील वायु नित्य आकाश में स्थित रहता है, वैसे ही सम्पूर्ण प्राणियों को मुझ में स्थित जान।।६।।

तात्पर्य

जनसाधारण के लिए यह सत्य प्रायः अचिन्त्य है कि महान् प्राकृत सृष्टि किस प्रकार भगवान् के आश्रित है। अतएव इस सत्य को लोकबुद्धि मे प्रवेश कराने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण आकाश का दृष्टान्त दे रहे हैं। इस सृष्टि में हमारी कल्पना-शक्ति के लिए आकाश सबसे बड़ा है। सम्पूर्ण सृष्टि आकाश पर अवलम्बित है। इस आकाश में अणु से लेकर सूर्य, चन्द्र आदि बड़े से बड़े ग्रह परिभ्रमण कर सकते हैं। महान् वायु भी आकाश में स्थित है; वह आकाश से अतीत नहीं है।

इसी प्रकार, सम्पूर्ण आश्चर्यमयी सृष्टि श्रीभगवान् के संकल्प के आधार पर स्थित है और पूर्ण रूप से उसी के आधीन है। जैसा लोकप्रसिद्ध है, भगवत्-इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार सब कुछ उन्हीं के संकल्प के अनुसार हो रहा है। उनके संकल्प से सारी सृष्टि होती है, सबका पालन होता है और अन्त में नाश होता है। फिर भी, वे सबसे असंग हैं, उसी भाँति जैसे गगन वायुमण्डल से सदा असंग है। उपनिषद्-वाणी है. श्रीभगवान् के भय से ही वायु विचरता है।' **गर्गोपनिषद्** में कहा है, 'श्रीभगवान् की आज्ञा की आधीनता में चन्द्र, सूर्य आदि भीमकाय ग्रह घूम कर रहे हैं।' ब्रह्मसंहिता में भी इसका उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि तेज और प्रकाश के विस्तार की अनन्त शक्तिवाला सूर्य श्रीभगवान् का एक चक्षु है। श्रीगोविन्द की आज्ञा और सकल्प के अनुसार वह अपनी निश्चित कक्षा में घूम रहा है। इस प्रकार, वैदिक साहित्य से प्रमाणित होता है कि अति अद्भुत एवं महान् प्रतिभासित होने वाली यह प्राकृत सृष्टि पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के नियन्त्रण में है। अगले श्लोकों में इस तथ्य का अधिक विशद वर्णन है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अनुवाद

हे अर्जुन! कल्प का अन्त होने पर सम्पूर्ण सृष्टि मेरी प्रकृति में लय हो जाती है

और नए कल्प के आरम्भ में अपनी शक्ति द्वारा मैं उसे फिर रचता हूँ। ।७। ।

तात्पर्य

इस प्राकृत सृष्टि का सृजन, पालन एवं संहार पूर्ण रूप से श्रीभगवान् के परम संकल्प पर निर्भर करता है। कल्पक्षय का अर्थ ब्रह्मा की मृत्यु से है। ब्रह्मा के जीवन की अवधि सौ वर्ष है, जिसका एक दिन पृथ्वी के ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। उसकी रात्रि की भी यही परिधि है। इस परिमाण के तीस दिवा-रात्रि से उसका एक मास बनता है और बारह मास का एक वर्ष होता है। ऐसे सौ वर्षों के बाद ब्रह्मा का देह शान्त होने पर प्रलय हो जाती है। इसका अर्थ है कि श्रीभगवान् द्वारा अभिव्यक्त की गई शक्ति पुनः उन्हीं में लय हो जाती है। समय आने पर उनकी इच्छानुसार फिर सृष्टि-प्रकाश होता है। वैदिक सूक्ति है, 'एक होने पर मैं बहुरूप धारण करूँगा।' इस संकल्प से वे माया शक्ति में अपना प्रकाश करते हैं और सम्पूर्ण प्राकृत सृष्टि फिर प्रकट हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अनुवाद

सम्पूर्ण सृष्टि मेरे आधीन है। मेरे सकल्प से ही यह बारंबार प्रकट होती है और मेरे ही सकल्प से अन्त में इसका नाश होता है।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अनुवाद

हे धनंजय! यह सब कार्य मेरे लिए बन्धनकारी नहीं हो सकता, क्योंकि मैं इसमें उदासीन के समान अनासक्तभाव से स्थित हूँ।।९।।

तात्पर्य

इस सन्दर्भ में यह नहीं समझना चाहिए कि श्रीभगवान् निष्क्रिय हैं। अपने वैकुण्ठ-जगत् में वे नित्य क्रीड़ारत हैं। ब्रह्मसंहिता में उल्लेख है: 'प्राकृत क्रियाओं से सर्वथा असंग होते हुए भी वे अपनी आनन्दचिन्मयरसात्मिका लीला में नित्य तत्पर हैं।' प्राकृत क्रियाएँ उनकी विविध शक्तियों द्वारा घटती हैं; श्रीभगवान् स्वयं सृष्ट जगत् की संपूर्ण प्राकृत क्रियाओं से नित्य उदासीन रहते हैं। यहाँ उनकी इस उदासीनता का वर्णन है। जड़ प्रकृति पूर्णरूप से उनके आधीन है, फिर भी वे उदासीन के सदृश बैठे हैं। इस सन्दर्भ में न्यायाधीश का दृष्टान्त उल्लेखनीय है। वह स्वयं अपने

आसन पर बैठा रहता है, परन्तु उसकी आज्ञा से कितनी ही घटनायें घटित होती हैं—किसी को प्राणदण्ड दिया जाता है, किसी को कारावास तो किसी को विपुल लक्ष्मी; परन्तु इस सबसे वह स्वयं सर्वथा असंग है। उस हानि-लाभ से उसे कोई प्रयोजन नहीं। ऐसे ही, यद्यपि प्रभु का हाथ हर कार्यक्षेत्र में रहता है, फिर भी वे सबसे असंग हैं। 'वेदान्तसूत्र' में उल्लेख है कि वे इस जगत् के द्वन्द्वों से अतीत हैं। इस ससार के सृजन-संहार में भी उनकी आसक्ति नहीं है। जीव पूर्वकर्म के अनुसार नाना योनियों को ग्रहण करते हैं, श्रीभगवान् इसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र! यह अपरा प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इसी कारण इस जगत् का बारम्बार सृजन और संहार होता है।।१०।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अनुवाद

मेरे नराकार में अवतरित होने पर मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।।११।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

अनुवाद

जो इस प्रकार संमोहित हैं, वे आसुरी तथा अनीश्वरवादी स्वभाव को धारण किये रहते है। उस मोहमयी अवस्था में उनकी मुक्ति की आशा, उनके सकाम कर्म और उनके द्वारा अर्जित ज्ञान आदि सभी कुछ निष्फल हो जाता है।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

अनुवाद

परन्तु हे पार्थ ! मोहमुक्त महात्माजन तो मेरी दिव्य प्रकृति के आश्रित होकर और मुझे अविनाशी आदिपुरुष जानकर अनन्य चित्त से मेरी भक्ति के ही परायण रहते हैं।।१३।।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि महात्मा वास्तव में कौन है। सच्चे महात्मा का प्रथम लक्षण यह है कि वह दिव्य प्रकृति में स्थित रहता है; माया के आधीन नहीं होता। इस स्थिति को प्राप्त करने की विधि का निर्देश सातवें अध्याय में है। जो भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होता है, वह अविलम्ब मायामुक्त हो जाता है। इस पथ के लिए यही पात्रता है। भगवान् के चरणकमलों में सर्वात्मसमर्पण करते ही तत्क्षण मायाबन्धन से मुक्ति हो जाती है। मुक्ति का बस यही ऐकान्तिक उपाय है। जीव श्रीभगवान् की तटस्था शक्ति है; अतः जैसे ही वह माया से मुक्त होता है, वैसे ही दैवी प्रकृति के आश्रय में आ जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् के चरणारविन्द की शरण लेकर जीव महात्मा पद पर आरूढ़ हो सकता है।

महात्मा का ध्यान श्रीकृष्ण से अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि श्रीकृष्ण आदिपुरुष हैं और सब कारणों के परम कारण हैं। उसे इसमें कुछ संदेह नहीं रहता। ऐसे महात्मा का उदय अन्य महात्माओं अथवा शुद्धभक्तों के संग से होता है। देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शुद्ध भक्त तो श्रीकृष्ण के चतुर्भुज महाविष्णु आदि अन्य रूपों की ओर तक आकृष्ट नहीं होते। वे तो बस श्रीकृष्ण के वेणुवादननिरत द्विभुज रूप में ही नित्य अनुरक्त रहते हैं। वे किसी देवरूप अथवा मनुष्य से कोई अपेक्षा नहीं रखते; उनका ध्यान कृष्णभावना में केवल श्रीकृष्ण पर एकाग्र रहता है। ऐसे कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण के ध्यान और अचल भगवत्सेवा में ही नित्य निमग्न रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अनुवाद

ये महात्माजन नित्य-निरन्तर मेरा कीर्तन करते हुए, दृढ़ निश्चयपूर्वक चेष्टा करते हुए तथा प्रणाम करते हुए भक्तिभाव से निरन्तर मेरी आराधना करते हैं।।१४।।

तात्पर्य

कोई साधारण व्यक्ति नाममात्र देने से महात्मा नहीं बन जाता। सच्चे महात्मा

के स्वरूप लक्षणों का यहाँ वर्णन है। महात्मा भगवान् श्रीकृष्ण के कीर्तन में तन्मय रहता है। नित्य-निरन्तर भगवत्-कीर्तन करने के अतिरिक्त उसे कोई और काम नहीं होता। दूसरे शब्दों में, महात्मा निर्विशेषवादी नहीं हो सकता। सच्चा महात्मा वही है, जो भगवद्धाम, भगवन्नाम, भगवत्-रूप, भगवद्गुण तथा अद्भुत भगवच्चरित्र की स्तुति के रूप में श्रीभगवान् का कीर्तन करे। ये सब भगवत्-तत्त्व सदा कीर्तनीय हैं। अतः सच्चा महात्मा श्रीभगवान् में ही अनुरक्त रहता है।

जो श्रीभगवान् के निर्विशेषरूप—ब्रह्मज्योति में आसक्त है, उसे श्रीमद्भगवद्गीता में महात्मा नहीं कहा गया है। उसका अगले श्लोक में पृथक् रूप से उल्लेख है। महात्मा किसी देवता अथवा मानव को नहीं पूजता; वह स्वयं श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्तन, आदि भक्तियोग के साधनों में तत्पर रहता है, जैसा श्रीमद्भागवत में वर्णन है। उस भक्ति का स्वरूप यह है: **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणम्...।** यथार्थ महात्मा में पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय रहता है। तत्सम्बन्धी सफलता के लिए वह अपनी सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं से भगवत्सेवानिष्ठ हो जाता है। इसी का नाम पूर्ण कृष्णभावना है।

भक्तियोग में कुछ क्रियाएँ अनिवार्य हैं, जैसे एकादशी, अवतारजयन्ती, आदि उपवासव्रतों का पालन इत्यादि। ये विधि-विधान महान् आचार्यों द्वारा उन्हीं के लिए कहे गये हैं, जो भगवद्धाम में श्रीभगवान् को प्राप्त करने के सच्चे अभिलाषी हैं। महात्माजन इन विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं; अतएव उनके लिए अभिलाषित लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित है।

जैसा अध्याय के द्वितीय श्लोक में वर्णन है, यह भक्तियोग सुगम होने के साथ ही आह्लादपूर्वक सम्पादित किया जा सकता है। इसके लिए किसी कठोर तप-त्याग की अपेक्षा नहीं है। विदग्ध सद्गुरु के आश्रय में गृहस्थी, संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी—किसी भी स्थिति में, विश्व के किसी भी स्थान में, भक्तिभावित जीवन व्यतीत करने वाला कोई भी मनुष्य इस भगवद्भक्तियोग के द्वारा वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अनुवाद

दूसरे जो ज्ञान के अनुशीलन में तत्पर हैं, वे मुझ परमेश्वर को अद्वय-रूप में, विविध रूपों में और विश्वरूप में भी उपासते हैं।।१५।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

अनुवाद

क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ, यज्ञ अर्थात् स्मार्तकर्म मैं हूँ, पितृतर्पण मैं हूँ, औषधि और मन्त्र भी मैं हूँ तथा मैं ही घी, अग्नि और हवनरूप क्रिया हूँ।।१६।।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।

अनुवाद

मैं इस जगत् का पिता, माता, पोषण करने वाला और पितामह हूँ। मैं ही जानने योग्य परम पावन ओंकार हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ।।१७।।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

अनुवाद

प्राप्त होने योग्य गति, सब का पालन करने वाला, परम ईश्वर, शुभ-अशुभ का साक्षी, परमधाम, शरण लेने योग्य, जीवमात्र का सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, विश्राम-स्थल और अविनाशी बीज भी मैं हूँ।।१८।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।

अनुवाद

हे अर्जुन! मैं ही सूर्यरूप से जगत् को तपाता हूँ, वर्षा का आकर्षण करता हूँ और फिर उसे बरसाता हूँ। मैं मूर्तिमान् अमृत और मृत्युरूप हूँ तथा मैं ही सत् और असत् हूँ।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

अनुवाद

तीनों वेदों में वर्णित कर्मों को करने वाले, सोमरस पीने वाले पापरहित मनुष्य स्वर्गप्राप्ति के लिए यज्ञों द्वारा मेरी अप्रत्यक्ष रूप से आराधना करते हैं। वे